प्रकाशक—
भारद्वाज पुस्तकालय
गरापत रोड (अनारकली)
लाहौर

मुद्रक—
वेश्वनाथ एम० ए०,
ार्य प्रेस लि०, लाहौर

विषय-सूची

लेखक के दो शब्द

प्रिय पाठक वृन्द !

प्राचीन काल से लेकर पुण्य वीर भूमि पञ्चनद प्रान्त सारे भारतवर्ष का पथप्रदर्शक बनता चला आया है। महाभारत काल में कौरव-पांडव संग्राम में जिन वीरों ने पुण्य कीर्ति प्राप्त की है उनमें से अधिकतर प्राय: पञ्जाब प्रान्त के ही वीर थे। जिन का स्मरण हम बड़े गौरव से करते हैं। महाभारत काल के बाद जिन वीरों ने इस पुण्य भूमि में जन्म लेकर अपने मस्तिष्क तथा बाहुबल से संसार भर को चकित किया है। उनमें से प्रसिद्ध नौ वीरों की जीवनी इस पुस्तक द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि उक्त वीरों की जीवनी से हमें अनेक शिक्षाएं मिल सकेंगी। भावी सन्तति इस पुस्तक को पढ़कर अपने पूर्वजों के सम्बन्ध में पूर्ण परिचय प्राप्त करती हुई उन्नति में अग्रसर होगी तथा देश और हिन्दू जाति को उन्नत करेगी।

प्रस्तुत पुस्तक में वीरों की जीवनी तथा ऐतिहासिक तथ्यों की ओर विशेष ध्यान रखा गया है। इतने पर भी यदि किसी सज्जन को इस पुस्तक में कोई त्रुटि प्रतीत हो तो सूचित करने की कृपा करें ताकि अगले संस्करण में उसे दूर किया जा सके।

निवेदक

रामचन्द्र शास्त्री

महाराजा पुरु (पोरस)

भारतवर्ष आदि काल से ही वीर, ओजस्वी और आदर्श महापुरुषों का अक्षय कोष रहा है। वैदिक काल से लेकर आज तक का इतिहास इस बात का साक्षी है कि संसार के किसी भी प्रदेश में इतने महापुरुष कहीं नहीं हुए जितने कि भव्य-भूमि भारत में। जहाँ हरिश्चन्द्र की सत्यवीरता, कर्ण और बली की दानशीलता; मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की आदर्श-मयता, भगवान् कृष्णचन्द्र की कर्मयोगिता, बुद्ध का अनुपम त्याग और चन्द्रगुप्त मौर्य, तथा अशोक आदि के शौर्य के सामने हमारा सिर श्रद्धा से झुक जाता है, वहाँ प्रतापी महाराजा पुरु (पोरस) के तेज, बल, पराक्रम तथा आदर्श के सम्मुख हम सादर श्रद्धाञ्जलि भेंट किये बिना नहीं रह सकते। अन्य मनुष्यों की अपेक्षा इनमें यही विशेषता है कि ये बहुत ही आत्माभिमानी थे। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उनमें साधारण मनुष्यों की अपेक्षा कोई न कोई एक विलक्षण गुण होता है। पर जिसमें आत्म-गौरव हो वह सर्वो-

परि माना जाता है। महाराज पोरस का जन्म ईस्वी सन् से पूर्व ३७० वर्ष के लगभग माना जाता है। क्योंकि ग्रीस के बादशाह संसार के महान् विजेता सिकन्दर (एलेग्ज़ेंडर) का जन्मकाल ई० सन् से ३५६ वर्ष पूर्व निश्चित रूप से इतिहासवेत्ताओं ने स्वीकार किया है। यह बड़ा उत्साही तथा पराक्रमी था। यूनान की रियासत मक़दूनिया इसका जन्म-स्थान और पिता का नाम फिलिप था। इस वीर विजेता ने ई० सन् से ३२६ वर्ष पूर्व जनवरी महीने में भारत पर आक्रमण किया। सिकन्दर और महाराजा पुरु में बड़ा भयङ्कर संग्राम हुआ। इससे सिकन्दर के जन्म-काल से कुछ साल पूर्व पुरु (पोरस) का जन्म उपयुक्त बैठता है। पुरु और सिकन्दर के युद्ध-काल में सिकन्दर की अवस्था २९–३० वर्ष की थी। ऐतिहासिकों ने इस बात का उल्लेख किया है कि महाराजा पुरु ने पहिले सिकन्दर की सेना को रोकने के लिए अपने बेटे को भेजा। जो कि लड़ाई में मारा गया। पोरस की सेना का नायक अर्थात् पोरस का राजकुमार उस समय कम से कम २०–२२ साल का अवश्य रहा होगा। इस अनुमान से उस समय पुरु की अवस्था ४५ से ऊपर ही ठहरती है। अस्तु इस विवेचन से पाठक समझ गये होंगे कि पोरस की अवस्था सिकन्दर से १५–२० वर्ष अधिक थी जो कि ई० सन् से ३७०–८० वर्ष पूर्व निश्चित है। पोरस के पिता का नाम महाराजा चन्द्रसेन था, जो कि मद्र देश का सम्राट् माना गया है। इनका राज्य केवल जेहलम तथा चनाव नदियों के मध्यवर्ती प्रान्त में ही था, किन्तु पञ्जाव के कई अन्य बड़े२ राजा भी इनके आधीन थे। सिंध

नदी से लेकर जेहलम तक एक बड़ा प्रान्त जिसका राजा आम्भी था वह भी महाराज चन्द्रसेन के आधीन था। उत्तर पूर्व के छोटे मोटे राजाओं के अतिरिक्त दक्षिण काश्मीर का राजा अभिसार भी महाराजा चन्द्रसेन का सामन्त था। चन्द्रसेन एक शक्तिशाली राजा था। यह बड़ा उदार और न्याय-प्रिय, साधु-स्वभाव व्यक्ति था। अपने भुज-बल से इसने पञ्जाब के बहुत सारे राजाओं को आधीन कर लिया था। विकासवाद तथा प्रकृति का यह नियम है कि कारण के गुणों से कार्य के गुणों में विशेषता होती है। महाराजा चन्द्रसेन अपने समय में जैसे सर्वगुण सम्पन्न थे वैसे ही उनके इकलौते पुत्र पोरस में भी किसी गुण की कमी न थी। पिता ने एकमात्र सन्तान होने के कारण बालक पुरु का लालन-पालन बहुत अच्छी प्रकार से किया। किसी बात की त्रुटि न रखते हुए होनहार बालक का बचपन केवल लाड़ प्यार में ही नष्ट नहीं होने दिया बल्कि उस समय के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय (यूनिवर्सिटी) तक्षशिला में उसको पढ़ने के लिये भेज दिया।

आज कल की यूनिवर्सिटियों की अपेक्षा तक्षशिला यूनिवर्सिटी का संसार भर में अधिक मान था। हो सकता है कि उत्तर भारत में यही एक सर्वोत्तम विद्या-केन्द्र रहा हो और यही उसकी प्रसिद्धि का कारण बना हो। कुछ भी है, ऐतिहासिकों ने शिलालेख आदि के आधार पर जहां तक खोज की है उससे निःसन्देह यह बात सिद्ध हो गई है कि तक्षशिला एक बहुत बड़ा केन्द्रीय विश्व-विद्यालय था। जिसमें दूर-दूर के देशों से भी बालक पढ़ने आया करते

थे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी यहीं विद्याध्ययन किया। यह मगध देश की राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) से यहाँ पढ़ने आया था। तक्ष-शिला एक प्रकार की रियासत थी जो कि सिन्ध नदी से लेकर जेहलम तक मानी गई है।

राजकुमार पुरु (पोरस) ने विद्यापीठ के नियमानुसार सारे शास्त्रों का अध्ययन बड़ी तत्परता से किया। उसकी बुद्धि इतनी विलक्षण थी कि आचार्य जिस बात को एक बार बता देते वह तो ब्रह्मा की लकीर बन जाती। थोड़े ही समय में कुमार का अध्ययन समाप्त हो गया और अब समय आ गया कि विद्यापीठ के स्नातक को घर जाने की आज्ञा दी जाय। आजकल के उपाधिवितरणोत्सव की भाँति उस समय भी एक बृहत् सभा बुलाई जाती थी और सम्राट् या सम्राट् के प्रतिनिधि के सामने आचार्य लोग अपने शिष्यों को विद्या-समाप्ति के उपलक्ष्य में उपाधि दिया करते थे। इसके उप-रान्त विद्या-निष्णात वह ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। एक दिन तक्षशिला के विद्यापीठ में बड़ी भारी सभा बुलाई गई। जिसमें सम्राट् चन्द्रसेन, स्थानीय राजा आम्भी, अभिसार नरेश, आचार्य-गण तथा प्रमुख नागरिक उपस्थित थे। प्रधान आचार्य ने दीक्षान्त भाषण में युवराज पोरस को उत्तम २ शिक्षा के साथ विद्यापीठ छोड़ने तथा घर जाने की आज्ञा दी। इन दिनों महा-राजा चन्द्रसेन, तक्षशिला-नरेश आम्भी के अतिथि बने हुए थे। इसलिए कुछ दिन तक चन्द्रसेन तथा कुमार पुरु तक्षशिला के राजमहल ही में ठहराये गये। कई वर्ष पहले सम्राट् चन्द्रसेन ने अपनी दिग्विजय-यात्रा में आम्भी नरेश को जीत लिया था तब से वह

इनके अधीन है। किन्तु आम्भी हृदय से चन्द्रसेन की आधीनता स्वीकार नहीं करता था। वह अवसर की ताक में था कि कोई वहाना मिले जिससे इनकी आधीनता से छुटकारा हो। आम्भी वहुत दिनों से किसी एक ऐसे राजा को अपने साथ मिलाना चाहता था जो उसकी तरह मन से चन्द्रसेन के विरुद्ध हो। इसलिए आम्भी ने एक दिन घूमते हुए अभिसार नरेश से वातचीत की कि सम्राट् चन्द्रसेन अव वृद्ध हो गये हैं मुझे अव उनके वहुत समय तक जीने की आशा नहीं, उनके अन्तिम दिन ही समझने चाहिएं। इस प्रकार सैकड़ों बुरी भली वातों को कहने के वाद उसने अपने हृदय का ज़हर उगल दिया कि चन्द्रसेन के राज्यत्व काल में तो मैं उनका सामन्त वना रहा पर उनके उत्तराधिकारी पुरु को तो मैं अपना सम्राट् नहीं मानूँगा। चन्द्रसेन के मरने पर पुरु से युद्ध करूँगा और स्वतन्त्र रूप से मद्र देश का सम्राट् वनूँगा।

इस बात को सुन कर पहिले तो अभिसार नरेश ने असमर्थता प्रकट की, परन्तु जब आम्भी ने अपनी कन्या उर्वशी को उसे व्याह देने का वचन किया तो फिर अभिसार नरेश चन्द्रसेन के विरुद्ध लड़ने के लिये कटिवद्ध हो गया। आम्भी स्वयं वीर था तथा राजनीति के दांव-पेच भी खूव जानता था। सहायक राजा के मिल जाने से सम्भव था कि वह कभी भी विद्रोह खड़ा कर सकता। किन्तु वह अवसर की प्रतीक्षा अवश्य कर रहा था। भावी किसी के हाथ नहीं, मनुष्य जो सोचता है वह कभी पूरा नहीं होता और कभी-कभी हो भी जाता है।

इधर युवराज पुरु कई वर्षों के वाद विद्यापीठ से छुट्टी पा चुके

हैं। विद्यापीठ में कई नियमों का पालन करना पड़ता था, मनोविनोद की सामग्री विद्यार्थी जीवन में कहाँ। अब वह स्वतन्त्र है इसलिए कुछ समवयस्क मित्रों तथा राज-कर्मचारियों के साथ तक्षशिला के घने जङ्गल में शिकार खेलने निकल पड़ा। राजकुमारों का जन्म से ही यह नैसर्गिक गुण होता है कि वे प्राय: शिकार के शौकीन होते हैं। शिकार खेलने से एक बड़ा भारी लाभ होता है और वह यह कि शिकार पर ठीक लक्ष्य मारना, उसके पीछे दौड़ना तथा अन्त में उसके प्राण लेकर रहना। बस यही गुण, यही विद्या एक विजेता के लिए युद्ध के समय में काम आती है। यद्यपि "अनभ्यासे विषं विद्या" अर्थात् बिना अभ्यास के विद्या विष तुल्य हो जाती है, के अनुसार पुरु का कई वर्षों बाद धनुर्बाण ग्रहण करने का यह पहिला ही अवसर था और यदि कोई गलती भी हो जाती तो क्षम्य थी। किन्तु पुरु में असाधारण गुण थे, भला वह राजाओं की मुख्य विद्या को कैसे भूल सकता था। अचानक एक शेर की गर्जना (दहाड़) सुनाई दी। पुरु सावधान हो गया, मृगों को खदेड़ता हुआ शेर भी सामने आ पहुँचा। यह एक भयङ्कर शेर था जिसको पकड़ने के लिए आम्भी नरेश ने कई प्रयत्न किये थे। पुरु ने निशाना मारा पर ठीक न लग सका, क्रुद्ध हुए शेर ने आक्रमणकारी पर आक्रमण कर दिया, परन्तु पुरुने बड़ी कुशलता से ऐसे तलवार का वार किया जिससे सिंह घायल हो वहीं मर गया। आज पहिली बार ही पुरु विजित हुआ, विजय की प्रसन्नता में मित्रों के साथ पुरु घर की ओर वापिस लौटा।

आम्भी नरेश का एक भाई जिसका नाम कर्ण था वह बड़ा ही

दुराचारी था। रियास्त में किसी की सुन्दर बहू-बेटियों को देख कर वह उनसे बलात्कार करता तथा उनके सतीत्व को भङ्ग करता। आज जब शिकार खेल कर युवराज पुरु वापिस आ रहे थे तो उनको एक स्त्री के रोने का करुणा-जनक शब्द सुनाई पड़ा। ध्यान से देखने पर पता चला कि दुराचारी कर्ण किसी स्त्री को अपने रथ पर बिठा कर ले जा रहा है। पुरु ने कर्ण के रथ को रोकने के लिये अपना घोड़ा आगे खड़ा कर दिया।

पुरु ने कर्ण से कहा—कर्ण ! तुम राजकुमार हो, तुम्हें ऐसा कर्म करते शर्म नहीं आती। इस बात को सुनकर कर्ण आपे से बाहर हो गया और पुरु से वाग् युद्ध करने लगा। बाद में कर्ण ने पुरु के ऊपर तलवार का वार किया, पुरु यह नहीं समझा था कि यह घटना इतनी सीमा तक पहुँच जायेगी; किन्तु 'होनहार हो के रहे' वाली बात ने भी तो चरितार्थ होना था। दोनों में तलवारें चलने लगीं, व्यसनी कर्ण ब्रह्मचारी पुरु के आगे भला कब ठहर सकता था। अन्त में कर्ण की छाती पर तलवार का ऐसा गहरा घाव लगा कि खून के फव्वारे फूटने के साथ ही उसके प्राण-पखेरू भी उड़ गये। कुमार पुरु ने अपने विश्वस्त पुरुष के साथ उस स्त्री को घर भेजना चाहा, किन्तु वह स्वयं ही चली जाने को तैयार हो गई। इस अघटित घटना से पुरु बहुत दुखी हुआ। वह नहीं चाहता था कि आम्भी नरेश के साथ बिगाड़ी जाय; पर जो होना था वह हो चुका। ये सब इस बात पर पश्चात्ताप कर ही रहे थे, कि आम्भी नरेश का सेनापति सामने आ पहुँचा और कहने लगा कि—राज-दण्ड के नियमानुसार नर-हत्या के अपराध में आपको मैं बन्दी करता हूँ।

पुरु इस बात को सहर्ष स्वीकार करते हुए बोले—न्याय के सम्मुख राजा और रंक सभी एक समान हैं। यद्यपि कुमार के साथियों को यह बात अच्छी नहीं लगी। परन्तु सेनापति ने पुरु को बन्दी बना लिया और अपने साथ ले गये। जिस अबला के रक्षण से पुरु के ऊपर विपत्ति के बादल टूट पड़े थे वह 'चन्द्रभागा' नाम वाली स्त्री भी घर न जाकर बंदी पुरु के पीछे २ चल पड़ी।

उधर सम्राट् चन्द्रसेन तक्षशिला के राजभवन में अम्भी और अभिसार नरेश के साथ बातचीत कर रहे हैं। वृद्धावस्था में मनुष्य स्वभाव से ही चिन्ता-शील हो जाता है। चन्द्रसेन की अवस्था अब आखिरी मंजिल पर क़दम रख चुकी है। इसलिए चिन्तित होकर आम्भी से कहने लगे—पुरु को शिकार के लिए गये बहुत समय हो गया वह अभी तक लौट कर नहीं आया।

इतने में समाचार मिला कि पुरु ने शिकार में एक भयावने सिंह को मारा है। पिता के लिए पुत्र की वीरता सुनना स्वर्ग से भी बढ़ कर सुखदायी है। चन्द्रसेन तो आनन्द-सागर में हिलोरे लेने लगा, परन्तु आम्भी के हृदय में ईर्ष्या के साँप लोटने लगे। भाग्य की गति बड़ी विचित्र है—जो चन्द्रसेन अभी हर्ष का सुख ले रहा था और आम्भी दुःख का अनुभव कर रहा था इन दोनों ने पलटा खाया। सेनापति ने बन्दी पुरु को राजा के सामने उपस्थित किया और उसे कर्ण का घातक बतलाया। आम्भी यद्यपि कर्ण के अत्याचारों से तंग आ गया था और उसका अन्त चाहता ही था परन्तु भ्रातृत्व की ममता तथा पुरु के प्रति वैमनस्य ने आम्भी को इस बात पर बाधित कर दिया कि कर्ण के वध के बदले

कल सवेरे पुरु को फाँसी दी जाय। सम्राट् चन्द्रसेन इस घटना को सुनकर अवाक् रह गये। उन्होंने आम्भी को बहुत समझाया, धमकाया, पुत्र के स्थान पर अपने आप को फाँसी के लिए पेश किया, किन्तु आम्भी ऐसे स्वर्ण अवसर को हाथ से कब जाने देता। अभिसार नरेश हृदय से आम्भी के साथ मिला था इसलिए उसने इस घटना में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। आम्भी ने सम्राट् को भी नज़रबन्द कर दिया और पुरु को कारागार भेज दिया।

आम्भी की राजकुमारी उर्वशी हृदय से पुरु को चाहती थी। जिस दिन तक्षशिला विद्यापीठ में युवराज पुरु के विद्या-समाप्ति के उपलक्ष में उत्सव मनाया गया था उर्वशी भी अपने पिता के साथ वहाँ गई थी। हिन्दु-शास्त्रों का सिद्धान्त है कि प्रेम का सम्बन्ध पिछले जन्मों से होता है। उर्वशी ने उसी दिन निश्चय कर लिया था कि चाहे कुछ भी क्यों न हो मैं पुरु के साथ ही शादी करूँगी। आज दैवी विपत्ति आ गई, कर्ण के हत्याकाण्ड से पुरु को फाँसी का दण्ड होने के कारण उर्वशी की आशाओं पर पानी फिर गया। प्रेम प्राणी को पागल बना देता है, इसी आवेश में आकर उर्वशी ने निश्चय कर लिया कि कुछ भी हो पुरु का उद्धार करना ही पड़ेगा। विचार-सागर में डुबकियाँ लगाती हुई वह अपने आपको भी भूल सी गई, परन्तु पैरों की आहट पाकर अचानक चौंक पड़ी। सामने पिता खड़े हैं और वे अभिसार-नरेश से अभी उर्वशी के विवाह का परामर्श करके आये हैं। आम्भी ने बड़े मधुर शब्दों में कहा—पुत्री! अभिसार नरेश के साथ मैंने तुम्हारा विवाह करना निश्चित कर लिया है। तुम्हें हर प्रकार से

वे तुम्हारे योग्य प्रतीत होते हैं। उर्वशी पर मानो बिजली टूट पड़ी, किन्तु सावधान होकर बोली—पिता जी आप मेरे विवाह की चिन्ता न करें मैं विवाह नहीं करना चाहती हूं। पिता पुत्री में बड़ी देर तक बातें होती रहीं। आखिर आम्भी क्रोधित हो कर वहाँ से चला गया।

स्त्रियों का यह नैसर्गिक गुण है कि वे जिस बात पर तुल जाती है उसे रोकने में ब्रह्मा भी असमर्थ हो जाता है। जहाँ वे ज़रा ज़रा सी बातों से डर जाती है वहाँ साहस में भी ये किसी से कम नहीं। उर्वशी अपने कमरे से बाहर आई और सम्राट् चन्द्रसेन के पास गई जहाँ वे नज़रबन्द थे। पुत्र की सज़ा सुन कर वे अर्धमूर्छित अवस्था में न जाने क्या प्रलाप कर रहे हैं। उर्वशी उनकी ऐसी दशा देख कर व्याकुल हो गई और उनको सचेत करने की कोशिश करने लगी। परन्तु असह्य वेदना के कारण महाराज के प्राण-पखेरू उड़ गये। इस घटना ने उसको और भी उत्तेजित कर दिया।

वह वापिस महल में आई और कारागार की चाबियाँ पिता की जेब से निकाल कर उनके नाम की मोहर एक कागज़ पर लगाकर कारागार के अध्यक्ष को लिखने लगी, कि पुरु को इसी समय मुक्त कर दिया जाय तथा एक सैनिक को उनकी राजधानी तक छोड़ने का प्रबन्ध कर दिया जाय। काम बन गया, महल का दरवाज़ा बन्द करके उर्वशी ने स्वयं सैनिक का वेश धारण किया और कारागार में पहुँच गई। । कारागार के दरवाज़े पर चन्द्रभागा भी अपने प्राणों की बाज़ी लगाये बैठी थी। उर्वशी ने अपना काम किया।

कारागार में पुरु शोकाकुल बैठा कल्पना के संसार में चक्कर लगा रहा था। मुक्ति का पत्र लेकर काराध्यक्ष पहुँचा, पुरु के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। काराध्यक्ष ने सैनिक वेश धरे उर्वशी के साथ पुरु को विदा किया। कुछ दूर चलने पर उर्वशी ने अपने सैनिक कपड़े पुरु को पहिना कर अपना प्यारा घोड़ा जिसका नाम 'रत्न' था सौंपते हुए कहा कि आप अभी राज्य-सीमा से बाहर अपनी राजधानी में चले जाएँ। पुरु ने वैसा ही किया जैसा कि उसने कहा।

सारा कार्य समाप्त करके उर्वशी महल को लौटी और शयनागार में जाकर लेट गई। इधर आम्भी अपना मनोरथ सिद्ध जानकर मंत्री के साथ बात-चीत कर रहा था। साथ ही उसने कई राजाओं तथा मित्रों को पत्र भी लिख दिये कि आज से मैं मद्र-देश का सम्राट् हूँ। किन्तु सेनापति ने आकर समाचार सुनाया कि पुरु को कारागार से मुक्त कर दिया गया। आम्भी अवाक् रह गया, पर अब क्या कर सकता है। शिकार हाथ से निकल गया। काराध्यक्ष को बुलाया गया उसने राजाज्ञा का लिखा पत्र दिखाया। आम्भी ने उर्वशी का लेख पहचाना और वह खड्ग लेकर उसके वध के लिए उसके कमरे में चला गया। क्रोध के आवेश में वह उसकी छाती पर कटार मारना ही चाहता था कि पुत्री के वात्सल्य ने उसके भाव बदल दिये उसने कटार फेंकदी, उर्वशी चौंक पड़ी। वह लज्जा से सिर झुकाये खड़ी क्षमा याचना करने लगी पिता ने बहुत कुछ कहा पर सब व्यर्थ। इधर राजकुमार पुरु तक्षशिला से भाग कर अपनी राजधानी साकल पहुँच गया और

अपनी सारी सेना लेकर अपने पिता को मुक्त कराने के लिये तक्षशिला की ओर चल पड़ा।

वास्तव में कुमार पुरु अचानक दैवयोग से ही आम्भी के चंगुल में फँस गया, नहीं तो आम्भी की क्या ताकत थी जो उसे आधीन कर सकता। आधे रास्ते में समाचार मिला कि पिता का स्वर्गवास हो गया और आम्भी सेना-सहित मद्र देश पर चढ़ाई करना चाहता है। आखिर घमासान युद्ध हुआ, आम्भी हार गया और उसे वन्दी वना लिया गया। इस समय यदि पुरु चाहता तो आम्भी को जान से मार डालता पर वह उदार हृदय का था इस लिये उसने उसका राज्य उसे वापिस लौटा दिया। इस वात से तक्ष-शिला नरेश को प्राण-भिक्षा तो मिली पर उसका हृदय ग्लानि से भर गया। प्राचीन भारतीय राजाओं में यह वड़ा भारी दोष था कि वे शत्रु के साथ भी उदारता का व्यवहार करते थे। यही त्रुटि पुरु ने भी की जो उसने आम्भी को छोड़ दिया। यही आगे चलकर भविष्य में विदेशी आक्रमणकारी सिकन्दर के साथ मिलकर पुरु को घोर विपत्ति में डाल देता है। उस समय मित्र या शत्रु के साथ एक जैसा उदारता का व्यवहार करना गुण समझा जाता था पर अब वही भारी दोष कहा जा सकता है। चन्द्रभागा के कारण ही पुरु पर विपत्ति के वादलों की घटा उमड़ी थी। उसको उर्वशी-रूपी आंधी ने एक ही झोंके में उड़ा दिया। उसने चन्द्रभागा का विद्यापीठ में प्रवन्ध कर दिया और पुरु से विवाह करने का प्रस्ताव अपने पिता से छेड़ दिया। आम्भी यद्यपि आधीन राजा था पर वह अपने विरोधी के साथ अपनी पुत्री

का विवाह कदापि नहीं करना चाहता था। पुत्री भी पिता के विरुद्ध चलने को तय्यार नहीं हुई और उसने आजन्म कुमारी रहने का ही निश्चय किया। विद्यापीठ के आचार्य दोनों राजाओं (पुरु और आम्भी) का विरोध मिटाना चाहते थे। उनकी भी यही राय थी कि उर्वशी का सम्बन्ध पुरु से हो जाय इसलिये उन्होंने एक पत्र आम्भी को भी भेजा, पर वह उसे स्वीकार नहीं करता। उर्वशी ने पुरु को एक पत्र लिखा और उसमें यह भी स्पष्ट कर दिया कि मैं विवाह करने में असमर्थ हूँ। अन्त में वह स्वयं भी पुरु को मिली। चन्द्रभागा भी चाहती है कि मेरा सम्बन्ध पुरु से बन जाय। पुरु अब पिता का उत्तराधिकारी मद्र देश का सम्राट् है। उसको उर्वशी की ही चिन्ता नहीं बल्कि वह भारत का मानचित्र सामने रखकर दिगविजय की इच्छा कर रहा था। महाराजा पुरु ने कुछ सेना लेकर सब से पहिले उत्तर काश्मीर की ओर प्रस्थान किया। उधर के सारे प्रान्तों को हस्तगत करके वे सिन्ध की ओर लौटे। जिन दिनों पुरु सिन्ध प्रदेश का दौरा कर रहा था उन्हीं दिनों फारस का विजेता वीर सेनानी सिकन्दर (एलेग्ज़ेन्डर) ने भारत वर्ष पर आक्रमण किया। उस समय से लेकर अब तक सिकन्दर की गणना संसार के महान् विजेताओं में की जाती है। वह बड़ा उत्साही वीर था। सिकन्दर ने बाल्यावस्था से ही अपने जीवन का यह लक्ष्य बना लिया था कि समस्त संसार को विजय करूँगा। वह बीस वर्ष की अवस्था में राजगद्दी पर बैठा और उसने थोड़े ही समय में मिसर से लेकर अफगानिस्तान तक एशिया का सारा प्रदेश जीत लिया और फिर ई० सन् से ३२६ वर्ष पूर्व उसने भारतवर्ष

पर आक्रमण किया। जिस समय सिकन्दर ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया उस समय भारत की राजनैतिक व्यवस्था अच्छी न थी। भारत कई स्वतन्त्र रियासतों में बँटा हुआ था। कुछ रियासतें प्रजातन्त्र के रूप में थी तो कुछ राजा महाराजाओं के आधीन थीं। उत्तरी भारत में सब से प्रसिद्ध रियासत मगध थी, जिसकी राजधानी पटना थी। यह विशाल राज्य उत्तर-पश्चिम में सतलुज नदी के पूर्वी भाग तक गंगा यमुना की घाटी में फैला हुआ था। इस विस्तृत भूखण्ड पर नन्द वंश राज्य करता था। इसके पास बड़ी भारी वीर सेना भी थी। उत्तर पश्चिम में कई छोटी-छोटी रियासतें थीं जो एक दूसरे से विरोध किया करती थीं। इनके पारस्परिक विरोध से ही सिकन्दर कुछ अंश में सफल हुआ। तक्षशिला, मद्र देश, अभिसार इनका वर्णन तो हम पहिले कर चुके हैं। पर इनके अतिरिक्त चनाब-रावी के मध्य प्रदेश में पोरस का एक सम्बन्धी राज्य करता था। रावी से पूर्व एक कटोई जाति थी। पञ्जाब के दक्षिण पश्चिम में शिवि और मलोई दो जातियें अति प्रसिद्ध थीं। मलोई जाति के नाम से मुलतान शहर बन गया। यद्यपि आपसी वैमनस्य के कारण ही भारत विदेशियों का दास बना। परन्तु हमें यह कभी न भूलना चाहिए कि—संसार के महान् विजेता सिकन्दर को भी परास्त करने वाला एक अकेला महाराज पुरु ही था। यदि आम्भी सिकन्दर की सहायता न करता तो वह १९ महीने तक भारत में कदापि न टिक सकता।

अस्तु सिकन्दर ने अटक से १६ मील उत्तर ओहिन्द नामक स्थान में अपना शिविर बनाया और एक पत्र पुरु को भेजा कि तुम हमारी आधीनता स्वीकार कर लो। एक पत्र आम्भी को भी

लिया। आम्भी ने सिकन्दर को अपना सम्राट् इस शर्त पर मान लिया कि मुझे मद्र देश का राजा बना दिया जाय।

महाराज पुरु ने साफ़ शब्दों में उत्तर लिख भेजा कि मैं लड़ाई के मैदान में ही आपका स्वागत करूँगा। इधर एलेग्जेंडर (सिकन्दर) अपने मनमें विचार कर रहा था कि फारस का साम्राज्य तो मैंने जीत लिया और आज मैं भारत के सिंहद्वार पर खड़ा हूँ। इस विशाल सुन्दर देश को भी यदि मैं अपने अधिकार में कर लूँ तभी मैं संसार-विजयी कहला सकता हूँ। मेरे पूज्य गुरुदेव अरस्तू इस देश की सदा प्रशंसा किया करते हैं। महाराज पुरु के पत्र से वह उत्तेजित हो गया। क्योंकि उन्हों ने यह भी लिखा था कि "मद्र देश के सम्राट् ने आज तक किसी के आगे सिर नहीं झुकाया इस लिये यदि कोई विरोधी उसके राज्य में पाँव भी रखेगा तो उसे प्राण-दण्ड मिलेगा। इन शब्दों को पढ़ कर सिकन्दर क्रोध के आवेश से तम-तमा उठा। उसने अपने सेनापति सेल्यूकस (मलयकेतु) को तथा हेफेशियन को बुलाकर पुरु पर चढ़ाई की आज्ञा दे दी। सिन्धु नदी पर किश्तियों का पुल बना कर उसे पार किया और सीधा तक्षशिला की ओर बढ़ा। वहाँ के राजा आम्भी ने सब प्रकार से एलेग्जेंडर की सहायता का वचन दिया। इसके अनन्तर जेहलम नदी के पूर्वी तट पर अपनी सेना ले जाकर सिकन्दर ने पुरु की सेना के साथ भयङ्कर युद्ध आरम्भ कर दिया। शक्ति-शाली पुरु की सेना में हाथियों की अधिकता थी। एलेग्जेंडर की सेना ने कभी भी हाथियों से युद्ध नहीं किया था। इस तुमुल संग्राम में पुरु की सेना के हाथियों ने ग्रीक सेना को कुचल डाला। उनमें

भगदड़ मच गई। सेनापति सेल्युकस और हेफ़ेशियन के साथ सिकन्दर एक नाव में बैठ कर जेहलम नदी से पार हो गये। इस समय पुरु की सेना ने इनका पीछा किया, किन्तु युद्धवीर पुरु ने अपना दाहिना हाथ उठाकर अपने सैनिकों को रोक दिया कि भागते हुए शत्रु पर आक्रमण करना युद्ध-नीति के विरुद्ध है। हम पहिले भी लिख चुके हैं कि भारत के महापुरुषों ने सदा ही शत्रु-मित्र के साथ उदारता का व्यवहार किया। उस समय यह बात धार्मिक दृष्टि से उचित समझी जाती थी। यही बात यहां पर भी चरितार्थ हुई। भागते हुए सिकन्दर को यदि पुरु बन्दी बना लेता या मार डालता तो उसको फिर भयङ्कर विपत्तियों का सामना न करना पड़ता।

जेहलम नदी के दूसरे तट पर पहुँच कर सिकन्दर ने अपने सेनापतियों के साथ परामर्श किया कि पुरु को जीतना बहुत कठिन है, इसलिए अपने देश को वापिस लौट जाना चाहिए। सेनाध्यक्षों ने इस बात का समर्थन किया। क्योंकि ग्रीक सेना भारतीय हस्ति-सेना का सामना नहीं कर सकती। आखिर सिकन्दर ने अपनी सेना को वापिस लौट जाने की आज्ञा दे दी।

भाग्य में क्या लिखा है, अभी अभी क्या होने वाला है, इस को कोई नहीं जानता। सिकन्दर तो निश्चय कर चुका था कि अब युद्ध नहीं करूँगा किन्तु, इतने में आम्भी सेना-सहित उसको मिलने आया। परस्पर बात-चीत होने के बाद हस्ति-सेना को परास्त करने का उत्तरदायित्व आम्भी ने अपने ऊपर ले लिया। सिकन्दर ने प्रसन्न होकर कहा—यदि शत्रु की गज-सेना का निराकरण आप कर लें तो विजय की पूर्ण सम्भावना है। सिकन्दर ने

उत्साहपूर्वक ग्रीक सेनापतियों को आज्ञा दी कि सारी सेना एकत्रकर आज रात को ही शत्रु पर आक्रमण करने के लिए नदी पार करनी चाहिए। उस दिन घने बादल छाये हुए थे, नदी में बाढ़ भी आई हुई थी और सामने पोरस की सेना यूनानियों का मुकाबिला करने को खड़ी थी। इसलिये सिकन्दर ने अंधेरी रात में जब कि वर्षा बड़े ज़ोर से हो रही थी कुछ दूर जाकर नदी को पार कर लिया। इस बार पुरु को विश्वास न था कि सिकन्दर इतनी तय्यारी करके अचानक आक्रमण कर देगा। जब प्रातःकाल ग्रीक सेनाके जय-घोष सुनाई देने लगे तब पोरस भी सावधान हो गया। दोनों दलों में युद्ध छिड़ गया। पुरु के सैनिकों ने ग्रीक सैनिकों के छक्के छुड़ा दिये। यदि सचाई से युद्ध होता तो इस बार भी पुरु अवश्य जीत जाते किन्तु उनके साथ विश्वासघात किया गया। आम्भी के संकेत से अभिसार नरेश ने जो कि गज-सेना का अध्यक्ष था, गज-सेना को लौटने का आदेश दे दिया। हस्ति-सेना के पीछे लौट आने पर पुरु की सेना कुचली जाने लगी। केवल पुरु ही अपने हाथी को लेकर खड़े रहे। कुछ विश्वस्त वीर सैनिक भी पुरु की सहायता करते रहे। फिर घमासान का युद्ध आरंभ हुआ। जब महाराज पुरु का हाथी घायल हो जाता है तो वे दूसरे हाथी पर चढ़ कर फिर युद्ध करने लगे। जब वीर पुरु अकेले रह जाते हैं तब सिकन्दर ने पुरु से कहा। वीर-प्रवर पुरु! आपका अब युद्ध करना व्यर्थ है। किन्तु महाराज पुरु ने कहा कि जब तक मेरे हाथ में तलवार है तब तक मुझे कौन बन्दी बना सकता है। वे अकेले ही तलवार के बल पर लड़ते रहे। किन्तु चारों ओर दुश्मनों का जमघट था आखिर बन्दी कर लिये गये।

इतिहासकारों ने महाराज पुरु के वन्दी होने के पश्चात् वार्तालाप का बड़ा रोचक वर्णन किया है। सब की यही राय है कि सिकन्दर ने पोरस से पूछा—तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाये, इस पर पोरस ने वड़ी निर्भीकता तथा वड़ी वीरता से उत्तर दिया कि 'जैसा एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है।' यदि मुझे मुक्त कर दिया जाये तो प्राण रहते मैं अपने देश को स्वतन्त्र करने का ही प्रयत्न करूँगा।

इस वात को सुन कर सिकन्दर वड़ा प्रसन्न हुआ और उसने पुरु का हाथ पकड़ कर कहा। पुरु? इस युद्ध में वस्तुतः तुम्हीं विजयी हुए और आप ही मद्र देश के सम्राट् हैं। परन्तु आम्भी नरेश आपको मद्र देश का सम्राट् स्वीकार नहीं कर सकता। क्योंकि यह भी वीर है इसकी पूजा करना हमारा कर्तव्य है। आखिर सिकन्दर ने जो कहा वही हुआ। किन्तु विचारणीय वात यह है कि जिस वीर सेनानी ने विजय की लालसा से अभिभूत हो कर सुदूर देश से लम्वी यात्रा करके भारत पर आक्रमण करने के ठानी और भारत के सिंहद्वार पर आते ही जिसने यह उत्कट लालसा अपने मुख द्वारा प्रकट भी की कि "मैं इस विशाल भारत को जीत कर ही विश्व-विजयी कहला सकता हूँ।" वह पुरु को वन्दी वनाकर तथा उसके इतने ही कहने पर कि "मेरे साथ ऐसा ही व्यवहार किया जाय जैसा एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है" को सुनकर उसे राज्य वापिस लौटा दे सर्वथा असम्भव सी ज्ञात होती है। विजयी सिकन्दर को तो अधिक उत्साही होकर अपनी इच्छानुसार आगे पूर्व भारत की ओर वढ़ना चाहिए था। यह हो सकता है कि आम्भी की कूट-नीति से पुरु वन्दी वनाया गया हो, पर मद्र देश की

सेना ने फिर घोर युद्ध किया हो और फिर सिकन्दर हार गया हो। वस्तुतः यह बात तो सत्य भी है कि उर्वशी हृदय से पुरु को चाहती थी। जब आम्भी सिकन्दर की सहायता करने को चला था उस समय भी उर्वशी ने अपने पिता को रोका था कि आप विदेशी आक्रमण-कारी की सहायता कर स्वदेश को पराधीन न बनावें। जब आम्भी न माना और उसने अपनी इच्छा के अनुसार ही कार्य किया तो उर्वशी मद्र देश के सैनिकों को लेकर फिर समर-भूमि में आई। सिकन्दर महान् राजनीतिज्ञ था, उसने यह भाँप लिया कि चाहे आम्भी पुरु को अपना शत्रु समझता हो पर उसकी लड़की उर्वशी जो पुरु से मिली हुई है। भविष्य में इस सारे राज्य की अधिष्ठात्री बनने वाली है। इन दोनों (पुरु और उर्वशी) के आगे अभिसार नरेश की कोई हस्ती नहीं, इसलिए सन्धि करके सिकन्दर ने पीछा छुड़ाया हो। एक बात का श्रेय हम सिकन्दर को अवश्य देंगे कि उसने आम्भी को बाध्य करके उर्वशी का विवाह पुरु से करा दिया।

उर्वशी का सम्बन्ध हो तो गया पर वह आम्भी को अच्छा न लगा। इसलिए उसने आत्म-हत्या कर ली। सन्धि होने पर कई महीनों तक अर्थात् १९ महीने तक सिकन्दर भारत में रहा। महा-राज पुरु को उसने बन्दी नहीं बनाया; बल्कि पुरु ने उसको ऐसे ढंग से नजरबन्द रखा जिससे वह आगे बढ़ने में सफल न हो सका। यदि वह विजयी होता तो क्या पूर्व भारत में उसको बढ़ने से रोकने वाला कौन हो सकता था। हाँ इतना अवश्य है, कि व्यास नदी के पश्चिमोत्तर तट "इन्दौरा" नगर तक सिक-

न्दर अवश्य गया, पर पुरु की इच्छा और सम्मति से। इसके लिए प्रमाणों की आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती कि पुरु जीता या सिकन्दर। तत्कालीन परिणाम ही इस बात का साक्षी है कि वास्तव में महाराज पुरु ही विजयी हुए। फिर उसकी सम्मति से सिकन्दर बिलोचिस्तान और ईरान के रास्ते होता हुआ बाबल पहुँचा। किन्तु वह अपनी जन्मभूमि तक नहीं पहुँच सका। रास्ते में ही ज्वर से पीड़ित होकर ई० सन् से ३२२ वर्ष पूर्व ३३ वर्ष की आयु में मर गया। इस महान् विजेता की अभिलाषाओं पर भी भारत के वीर प्रतापी महाराजा पुरु ने पानी फेर दिया। धन्य है, इनका पौरुष और प्रताप। विद्रोहियों के होने पर भी अकेले उत्तर पश्चिम भारत पर शासन करना उनका असाधारण व्यक्तित्व है।

यद्यपि हम इतिहासकारों के विरुद्ध जाना उचित नहीं समझते किन्तु फिर भी किसी संदेहात्मक बात को ज्यों का त्यों मान लेना संगत प्रतीत नहीं होता। हमारे संदेह का विषय केवल इतना है कि क्या सचमुच ही महाराजा पुरु पर सिकन्दर ने विजय प्राप्त की थी? क्योंकि जब संसार के महान विजेता सिकन्दर की यह भावना थी कि मैं एक दिन विश्व विजय करके ही चैन लूँगा। २० वर्ष की अवस्था से लेकर मृत्यु पर्यन्त वह बराबर संग्राम करता ही रहा तो भारत की सीमा पर आकर उसकी वह उत्कट भावना क्यों शिथिल हो गई। यदि वह पुरु को पराजित कर देता तो पूर्व भारत की ओर अवश्य बढ़ता। क्योंकि जब एक विजेता अपने प्रतिपक्षी राजा पर विजय प्राप्त कर लेता है तो उसके लिये यह बात अनिवार्य रूप से हो जाती

है कि वह और आगे वढ़े। परन्तु इतिहासकार इस वात को विना किसी हिचकिचाहट के लिख देते हैं कि सिकन्दर ने पुरु को युद्ध में पराजित कर दिया और वन्दी के रूप में जव पुरु को सिकन्दर (एलेग्ज़ेन्डर) के सामने लाया गया तो सिकन्दर ने जव पूछा, वीर प्रवर पुरु! तुम्हारे साथ अव कैसा व्यवहार किया जाय? इसके उत्तर में पुरु कहे कि "जैसा एक राजा दूसरे राजे के साथ करता है" वस इतनी सी वात को सुनकर सिकन्दर प्रसन्नता-पूर्वक पुरु को उसका राज्य वापिस लौटा दे, हमारी वुद्धि इस घटना को पूर्णतया सत्य मानने को तय्यार नहीं। हो सकता है कि इसमें कुछ तथ्यांश भी हो, पर उपरोक्त मात्र वाक्य को सुन कर सारे संसार के विजय का स्वप्न देखने वाला सिकन्दर ऐसा करने में कभी भी तत्पर नहीं हो सकता।

किसी यथार्थ प्रमाण के विना हमें अन्तः साक्ष्य और वहिः-साक्ष्य का सहारा लेना पड़ता है। वास्तव में सिकन्दर के विजित तथा पुरु के पराजित होने का ज्ञान हमें केवल इतिहास से ही प्रतीत होता है। किसी भी लेखक ने इतिहास से वाहर दृष्टि डालने की कोशिश नहीं की। किन्तु यूनान व फारस के शिलालेखों और पट्टों तथा परवानों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जेहलम के युद्ध में सिकन्दर की ही हार हुई। यों तो प्लूटार्क के लेखों से ज्ञात होता है कि पुरु की सेना में केवल २०,००० पैदल सिपाही और २००० घुड़सवार थे। इधर सिकन्दर की सेना पुरु की सेना से कई गुना अधिक थी। सम्भवतः उसकी सेना में एक लाख से भी अधिक पैदल सिपाही और २०,००० से भी अधिक घुड़सवार थे। इनके

अतिरिक्त तक्षशिला नरेश (आम्भी) की सेना भी उसके साथ थी। परन्तु पुरु की वीरता तो इसी बात में है कि उसने इतनी थोड़ी सेना के सहारे केवल अपने भुज-बल से विश्व-विजयिनी ग्रीक सेना के छक्के छुड़ा दिये। एक विशेष कारण यह भी हो सकता है कि सिकन्दर के सिपाही वर्षों से लड़ाई करते चले आ रहे थे अब उनमें उत्साह की मात्रा अधिक शेष न थी। इस विचार को तो सभी लेखकों ने इस प्रकार लिखा है—

जिस समय जेहलम नदी के किनारे पुरु और एलेग्ज़ेन्डर की सेनाओं में संग्राम छिड़ गया और पुरु की हस्ति-सेना ने एलेग्ज़ेण्डर की पैदल और घुड़सवार सेना को कुचलना आरम्भ कर दिया। ग्रीक सेना के लिए यह युद्ध अपूर्व था, उसने कभी हस्ति-सेना से संग्राम नहीं किया था। निदान इस भयङ्कर लड़ाई में ग्रीकों का उत्साह भग्न हो गया। सेल्यूकस और हेफेशियन आदि सेनाध्यक्षों के साथ एलेग्ज़ेण्डर ने एक किस्ती पर सवार हो नदी पार कर जाने का निश्चय किया ही था कि दूसरे तट से पुरु के सैनिकों ने तीरों की बौछार करनी आरम्भ कर दी। एक सेना-नायक को तीर लगा और वह धड़ाम से नदी में गिर पड़ा। इतने में अपने शीघ्रगामी रथ पर सवार पुरु नदी के इस ओर आ पहुँचा। उसने देखा कि सिकन्दर अपनी जान बचाकर भागा जा रहा है पर मेरे सैनिक बाणों की वर्षा बराबर करते ही जा रहे हैं।

महाराज पुरु भारतवर्ष का एक आदर्श सम्राट् था। उसने देखा कि भागते हुए शत्रु पर प्रहार करना पाप है, इसलिए उसने

हाथ उठाकर अपने सैनिकों को सम्बोधित करते हुए कहा—मेरे वीर सिपाहियो ! भागते हुए शत्रु पर आक्रमण करना नीति विरुद्ध है। सब लोग अपने-अपने शरों को तरकसों में रख लो। महाराज की आज्ञा पाकर भारतीय वीरों ने तीर चलाना बन्द कर दिया। बची हुई सेना के साथ सिकन्दर और उसके दोनों सेनापति नदी के पार चले गये। नदी पार अपने शिविर पहुँच कर सिकन्दर ने एक अन्तरङ्ग मीटिङ्ग की। जिसमें उसकी सेना के कुछ गण्य-मान्य पुरुष तथा कुछ अन्तरङ्ग मित्र थे। सिकन्दर ने अपने सेनापति हेफेशियन से पूछा कि अब हमें क्या करना चाहिए। सेनापति ने हतोत्साह होते हुए कहा—सम्राट् ! शत्रु की गज-सेना के आक्रमण से हमारी सेना अत्यन्त भयातुर हो गई है। सारे सिपाही यही कह रहे हैं कि भारतीय वीर सैनिकों से युद्ध करना सर्वथा असम्भव है। यदि अब भी सेना को पुनः युद्ध करने के लिये कहा जाय तो हो सकता है वह अपने अस्त्र शस्त्र छोड़ दे। प्रधान सेनापति हेफेशियन की बातों का समर्थन करते हुए दूसरे सेनानी सेल्युकस ने कहा—सम्राट् ? ग्रीक सेना को इस प्रकार भयभीत मैंने कभी नहीं देखा। इस समय तो वह बिलकुल निरुत्साह हो गई है। मैं तो यही ठीक समझता हूँ कि अब यहाँ से शीघ्र ही वापिस स्वदेश लौट जाना चाहिए। यदि महाराज पुरु की सेना ने रात्रि को ही नदी पार करके आक्रमण कर दिया तो सम्भव है समस्त ग्रीक सेना को अपने प्राणों से भी हाथ धोने पड़ें। आपको भी बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। आगे जैसी आपकी आज्ञा।

सिकन्दर की यह अन्तरङ्ग सभा थी इसमें सबकी राय लेनी अनिवार्य थी। दोनों सेनानियों की बात सुन लेने के पश्चात् उसने तीसरे सेनापति क्राटेरस की ओर संकेत किया। उस ने भी उसी बात का समर्थन करते हुए कहा कि, सेल्युकस ने जो कुछ कहा इस समय वही उपयुक्त है। यदि मद्र देश की सेना से हमें किसी प्रकार की हानि न भी पहुँचे, तो हमें अपनी सेना का भी कुछ कम भय नहीं। हमारी सेना यहाँ आकर उद्विग्न सी हो गई है। वह घर जाने के लिये उत्कण्ठित है, इसलिए इसे यदि एक दिन भी और अधिक ठहराया गया तो निश्चय ही सारी सेना में विद्रोह फैल जायगा और वे हम लोगों का ही वध कर डालेंगे।

इस अन्तः साक्ष्य से स्पष्ट सिद्ध है कि सिकन्दर के महान् प्रतापी होने पर भी जब उसकी सेना इतनी निरुत्साहित हो गई तो वह मद्र देश पर कैसे विजय-वैजयन्ती फहरा सकता था। यह ठीक है कि तक्षशिला नरेश आम्भी ने बाद में आकर सिकन्दर को सहायता देने का वचन दिया और सहायता दी भी। किन्तु क्राटेरस के उपरोक्त वचनानुसार "ग्रीक सेना यहां एक दिन और ठहराने मात्र से आपस में विद्रोह करने को तय्यार बैठी है" वह फिर लड़ाई कैसे लड़ सकती है। हो सकता है कि सिकन्दर के ओजस्वी भाषणों से ग्रीक सिपाहियों में उत्साह की लहर दौड़ पड़ी हो और वे एक बार फिर लड़ाई के मैदान में पुरु की सेना का मुकाबिला करने को उद्यत हो गये हों। किन्तु ग्रीक सिपाही इस बात को अच्छी प्रकार जानते थे कि यदि उत्तर भारत के इस संग्राम में सिकन्दर विजयी हो गया तो यह अवश्य ही पूर्व भारत को ओर बढ़ेगा

और हमें घर वापिस जाना नसीब न हो सकेगा। अतः वे लोग लड़े अवश्य पर लापरवाही से। हो सकता है कि सिकन्दर की पराजय का यही एक मुख्य कारण हो।

इस उपरोक्त कथन में तो इतिहासकार भी सहमत हैं। इतना ही नहीं बल्कि उनका कहना है कि अपने विश्वस्त साथियों के परामर्श के बाद बहुत निराशा-भाव से सिकन्दर ने कहा था—"मुझे यह आशा न थी कि मेरा जीवन-स्वप्न इस प्रकार भारत के सिंहद्वार पर भग्न हो जायेगा। हम युद्ध में पराजित न होते तो फिर भारत पर विजय प्राप्त करना कोई कठिन काम नहीं था। सचमुच ही यदि हमारी सेना इतनी हतोत्साह हो गई है तो उसे तुरन्त लौट जाने की आज्ञा देना ही हमारे लिये श्रेयस्कर है।"

ये थे सिकन्दर के वचन, जिनसे साधारण से साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है कि थोड़ी नहीं बल्कि बड़ी भारी पराजय सिकन्दर को देखनी पड़ी। इसकी पुष्टि में प्राचीन इतिहासकार कार्टियस लिखते हैं कि—"हाथियों को देखते ही ग्रीक सेना भयभीत हो गई। समस्त सेना में उथल-पुथल मच गई। थोड़े समय पूर्व जो अपने आपको विजयी समझते थे वही अब भाग कर अपने प्राण बचाने का मार्ग ढूँढने लगे। सिकन्दर के ओजस्वी भाषणों को सुन कर जो वीर साहस करके आगे बढ़ते उन्हें हाथी पैरों से कुचलते और ऊपर उठा कर नीचे फेंक देते। इस प्रकार कभी ग्रीक सैनिक आगे बढ़ते और कभी पीछे हट जाते। सन्ध्या समय तक इसी भाँति लड़ाई चलती रही।" यहाँ तक तो कार्टियस बड़े मजे से

साथ लिखता है, किन्तु आगे पक्षपात करता हुआ विना किसी हिचकिचाहट के लिखता है कि—"अन्त में ग्रीक सैनिकों ने हाथियों के पैर काट डाले और विजय श्री एलेग्ज़ेण्डर के हाथ लगी।" यह बात प्रामाणिक नहीं प्रतीत होती। साथ ही एरियन के लेख से मालूम होता है कि, एलेग्ज़ेण्डर ने सन्धि के लिए पुरु के पास दूत भेजा था और बड़ी कठिनाई से पुरु ने एलेग्ज़ेण्डर से संधि की। इससे भी स्पष्ट है कि पुरु ही विजयी हुआ न कि सिकन्दर। यह हो सकता है कि युद्ध के दिनों में कभी एक बार सिकन्दर भी जीत गया हो। युद्ध में तो होता ही है कि एक मोर्चे पर लड़ती हुई दो सेनाओं में से कभी कोई जीतता है तो कभी कोई। किन्तु अन्त में जिसकी विजय होती है उसको ही विजयी होने का श्रेय मिलता है। महाराजा पुरु एक बार अवश्य हारे थे। उनके हारने का कारण हम पहिले ही लिख आये हैं। यदि अभिसार नरेश समर-स्थल में उन्हें धोखा न देता तो यह हार भी इनको न देखनी पड़ती। महाराजा पुरु ने गज-सेना का अध्यक्ष अभिसार नरेश को नियुक्त किया था। आम्भी की मंत्रणा के अनुसार तुमुल संग्राम के बीच से अभिसार नरेश ने अपने हाथी को पीछे की ओर मोड़ लिया सेनापति के पीछे मुड़ते ही सारे के सारे महावतों ने अपने-अपने हाथी समर-स्थल से पीछे हटा लिए। हाथियों के पीछे मुड़ने से पुरु की सेना भी कुचली गई, परिणाम-स्वरूप आम्भी की सहायता से एलेग्ज़ेण्डर इस बार युद्ध में सफल हो गया। जब अकेले पुरु को ग्रीक तथा तक्षशिला के सैनिकों ने घेर लिया। उसी दिन सिकन्दर ने पुरु से

से पूछा था कि तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय। पर हमें यह तो अवश्य मानना पड़ेगा कि पुरु की विजय में आम्भी की राजकुमारी उर्वशी का बहुत कुछ हाथ था। उर्वशी इस बात को जानती थी कि मेरे पिता आम्भी ने केवल विदेशी आक्रमणकारी की ही सहायता ही नहीं की प्रत्युत अभिसार नरेश से भी गुप्त मन्त्रणा कर रखी है। इसी अन्तरङ्ग मन्त्रणा के अनुसार अभिसार नरेश ने समस्त गज-सेना को युद्ध-स्थल से दूर हट जाने के लिए प्रेरित किया।

उर्वशी ने इस सारी घटना को देखकर ही निश्चय किया था कि मुझे अब मद्र देश के सैनिकों की बागडोर अपने हाथ में लेनी चाहिए। पुरु के विजयी होने पर ही उर्वशी की मनोऽभिलाषा पूर्ण हो सकती थी। उसके पिता की तो यह इच्छा थी कि अभिसार-नरेश के साथ उर्वशी की शादी हो जाय। इसी स्वर्गीय सुख का अनुभव करने के लिए अभिसार-नरेश ने संग्राम के मैदान में पुरु के साथ विश्वासघात किया।

उर्वशी इस बात को सहन न कर सकी। वह उसी समय मद्र देश के सिपाहियों में आकर उन्हें धोखे से बचने के लिए तथा महाराज के साथ किये गये विश्वासघात को ओजस्वी शब्दों में प्रकट करने लगी। इसी का एक मात्र प्रभाव मद्र देश के सैनिकों पर पड़ा और वे फिर से युद्ध के लिए तय्यार हो गये। वही हस्ति-सेना फिर आगे बढ़ी और उसने बुरी तरह से ग्रीक सैनिकों को कुचलना प्रारम्भ किया। इस बार विजयलक्ष्मी मद्र देश के सैनिकों के हाथ आई और महाराजा पुरु मुक्त हो गये, सिक-

न्दर को हार खानी पड़ी। सम्भवतः इसी समय पराजित सिकन्दर ने संधि का प्रस्ताव पेश किया हो और पुरु ने उस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया हो। इतिहासकारों ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि सिकन्दर १६ महीने तक भारतवर्ष में रहा किन्तु वह पुरु का अतिथि बन कर ही रहा। क्योंकि जेहलम की लड़ाई के बाद सिकन्दर ने ग्रीक सेना को वापिस भेज दिया था। कुछ अन्तरङ्ग मित्र तथा थोड़ी सी सेना को ही उसने अपने साथ रखा था।

यूरोप के एक इतिहास-लेखक जसटिन ने एक लेख में लिखा है कि, "युद्ध छिड़ने पर पोरस ने एलेग्ज़ेंडर की सेना पर आक्रमण किया और शत्रु सेना से एलेग्ज़ेण्डर को बन्दी के रूप में माँगा। एलेग्ज़ेण्डर ने तुरन्त पोरस पर हमला किया, पर घोड़े के घायल हो जाने के कारण वह सिर के बल पृथ्वि पर गिर पड़ा। उसके सहचारियों ने उसके प्राणों को बचाया।" इससे स्पष्ट है कि जेहलम के युद्ध में कौन विजयी हुआ था। यहाँ पर हम विश्वास के साथ यह कहने में लेश भर भी संकोच नहीं करेंगे कि महाराज पुरु ही विजयी हुए थे। इसके बाद एलेग्ज़ेण्डर ने पुरु को स्वतंत्र सम्राट् माना और बड़े गर्व से उसका मित्र बनना स्वीकार किया।

एक बात और विचारणीय है कि इतिहासकारों ने यह भी लिखा है कि एलेग्ज़ेण्डर व्यास नदी तक आया। सम्भवतः जेहलम के युद्ध के बाद महाराज पुरु ने एलेग्ज़ेण्डर और उसकी

सेना को नदी के पूर्वीय प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने के कार्य में अपने ही साथ कर लिया हो। क्योंकि सिकन्दर के स्वदेश वापिस लौटते समय तक पुरु ने अपना राज्य व्यास नदी तक फैला लिया था। यदि यह माना जाय कि सिकन्दर ही व्यास नदी तक विजय प्राप्त करता हुआ आया तो वह फिर आगे क्यों नहीं बढ़ा। इसलिए निर्विवाद मानना पड़ेगा कि महाराजा पुरु एक बड़े प्रतापी राजा थे जिन्होंने अकेले ही विश्व-विजेता महान् पराक्रमी सिकन्दर के दाँत खट्टे कर दिये। यदि आम्भी और अभिसार नरेश महाराज पुरु के साथ विश्वासघात न करते तो सिकन्दर का लड़ना दूर रहा भारत में प्रवेश करना भी असम्भव था। आम्भी के कटु व्यवहार से तो महाराज पुरु पहिले से ही परिचित थे किन्तु अभिसार नरेश से उनको यह आशा न थी कि वह ठीक समय पर ऐसा विश्वासघात करेगा। नहीं तो वे उसको गज-सेना का अध्यक्ष क्यों बनाते। पाणिनि के व्याकरण के कुछ उदाहरणों से भी हमें पता पता चलता है कि जिस समय मद्र देश एक विशाल साम्राज्य माना जाता था उस समय कोई यवन जाति भारत पर आक्रमण करने आई और उसकी बड़ी भारी दुर्गति हुई। जैसे—"मद्राणाम् समृद्धिः सुमद्रम्, यवनानां व्यृद्धिः दुर्यवनम्"। इन दोनों उदाहरणों में 'सुमद्रम्' और 'दुर्यवनम्' विचारणीय हैं। संक्षेप में सुमद्रम् का अर्थ है मद्र देश का धन दौलत से सम्पर्क होना, 'दुर्यवनम्' का अर्थ है यवनों का धन संपत्ति से रहित होना।

मद्र देश प्राचीन काल से पञ्जाब के मध्य देश का नाम था।

और यहां के रहने वाले भी मद्र ही कहलाये हैं। एलेग्ज़ेण्डर के समय पुरु (पोरस) यहां के सम्राट् थे। इतिहास को ध्यान-पूर्वक देखने से तथा उपयुक्त पाणिनि के उदाहरणों से प्रतीत होता है कि मद्र देश वासियों से यदि यवनों की दुर्गति हुई तो केवल पुरु और एलेग्ज़ेण्डर के समय में ही हुई और समय में नहीं।

मेगस्थनीज़ एक यूनानी राजदूत था। जिसको सेल्युकस (सिकन्दर के भूतपूर्व सेनापति) ने चन्द्रगुप्त मौर्य के दरवार में भेजा था। वह कोई पांच वर्ष तक ३०२ से २९८ ई० पूर्व पाटलीपुत्र में रहा। उसने चन्द्रगुप्त के राजत्व काल का वृत्तान्त लिखते हुए एक स्थान पर महाराजा पुरु को चन्द्रगुप्त मौर्य से भी बढ़ कर बताया है।

इसलिए आधुनिक इतिहासकारों की ही यह भ्रान्त धारणा है कि फारस के समान भारत में भी एलेग्ज़ेण्डर की विजय हुई। परन्तु ग्रीक इतिहासकारों और विशेषकर एरियन, कार्टियस प्लूटार्क तथा जसटिन के लेखों से पता चलता है कि एलेग्ज़ेण्डर के भारत पर विजयी होने की झूठी कथा घढ़ी गई है। इतना ही नहीं बल्कि जहाँ जहाँ भी एलेग्ज़ेण्डर के पराजय की संभावना हुई वहाँ वहाँ इतिहासकारों ने अपनी मनमानी कपोल कल्पना रच दी है।

भारतवर्ष पर आक्रमण करने से पहिले एलेग्ज़ेन्डर को हिन्दुकुश और सिन्ध के मध्यवर्त्ती अश्वक नामक क्षत्रिय जाति से भी लड़ना पड़ा और उसने भी एलेग्ज़ेण्डर के बुरी तरह छक्के छुड़ाये। लगभग नौ मास तक अश्वकों से उसे लड़ना पड़ा और उनसे किसी प्रकार पीछा छुड़ाकर वह आगे बढ़ा। भारत से लौटती बार भी सिकन्दर को कई जातियों से लड़ना पड़ा। जिनमें से मलोई या माली जाति ने उसे बहुत कष्ट दिये। इन बातों

को लिखने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि पाठकों को यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सिकन्दर को किसी से हार खानी ही नहीं पड़ी। सिकन्दर सचमुच ही एक महान विजेता था परन्तु महाराज पुरु उसको भी परास्त करने में एक अद्वितीय वीर थे।

अब तक हमने अपने चरित्र-नायक के प्रताप की विवेचना की। अब ज़रा उनके आदर्श पर भी विहङ्गम दृष्टि डालिए। पुरु जैसा पराक्रमी था वैसे ही अद्वितीय आदर्शवादी भी। तक्ष-शिला के विद्यापीठ से विद्या समाप्ति के बाद जब राजकुमार पुरु शिकार खेलने जाते हैं और सायंकाल वापिस आते समय जब वे किसी स्त्री की करुणा-जनक पुकार सुनते हैं तो उसकी रक्षा के निमित्त कर्ण को किस प्रकार भर्त्सना देते हैं। "कर्ण ? राजकुमार होते हुए एक अनाथ अबला पर अत्याचार करना तुम्हें शोभा नहीं देता। मालूम होता है कि तुम क्षात्र-धर्म को बिलकुल भूल गये हो।"

राजकुमार पुरु के इन शब्दों से क्षात्र धर्म का आदर्श स्पष्ट रूप से प्रकट होता है।

आगे चलकर जब पुरु कर्ण का काम तमाम कर देता है और सेनानायक पुरु को बन्दी बनाने के लिये आता है तो वह सहर्ष अपने हाथों में हथकड़ियाँ पहनाने के लिये सेनानायक को कहता है और अपने साथियों से कहता है कि—"न्याय के सम्मुख राजा और रङ्क दोनों समान हैं ?" यह बात पुरु के न्याय-प्रियता की द्योतक है। उर्वशी हृदय से पुरु को चाहती थी और पुरु भी उर्वशी को, किन्तु आम्भी इस सम्बन्ध को कदापि पसन्द नहीं करता था। पुरु ने जिस समय आम्भी को अपने अधीन किया यदि वह चाहता तो पिछला बदला चुका कर उर्वशी

से शादी कर सकता था, किन्तु पुरु ने अपने आदर्श को देदीप्यमान करना था। इस लिए आम्भी का राज्य भी उसे वापिस लौटा दिया और उर्वशी को भी कहला भेजा कि तुम्हारे पिता की सम्मति से ही हमारा वैवाहिक सम्बन्ध होना अच्छा है। पुरु इस बात पर दृढ़ रहा और जब तक आम्भी ने स्वयं स्वीकृति नहीं दी तब तक उससे शादी नहीं की। यदि आम्भी इस बात की स्वीकृति अन्त तक न भी देता तो सम्भव था कि वह उससे विवाह ही न करता।

जिस सिकन्दर ने आक्रमण करके पुरु को युद्ध के लिए बाधित किया और जो सिकन्दर भारतवर्ष को सदा के लिए पराधीन करना चाहता था वह जब जेहलम की लड़ाई के प्रथम दिन हार खाकर अपने प्राण बचाकर अपनी सेना सहित भाग रहा था और और मद्र देश के सिपाही नदी के इस पार से तीर वृष्टि कर रहे थे तो उस समय सहसा आकर पुरु अपने सैनिकों को रोकते हैं और कहते हैं—"भागते हुए शत्रु पर आक्रमण करना नीति-विरुद्ध है।" ये शब्द पुरु की नीति-प्रियता के द्योतक हैं। इस प्रकार महाराजा पुरु के जीवन का एक एक अंश आदर्शमय है। प्रतापी होना और साथ ही अद्वितीय आदर्शमय शासक होना यह सर्वसाधारण में सर्वथा असम्भव है। चाहे आज के लेखक उच्च श्रेणी के वीर प्रतापी स्वाभिमानी और देश के रक्षक महाराजा पुरु को अपनी लेखनी द्वारा वर्णन का विषय न बनावें तो यह उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर है। परन्तु अन्वेषकों को चाहिए कि वे पुरु (पोरस) के जीवन के विषय में अधिकाधिक अन्वेषण करें ताकि ऐसा महान् प्रतापी राजा जनता की दृष्टि से ओझल न रहे।

सिक्ख संप्रदाय के प्रवर्तक—

आदि गुरु श्री नानक देव

श्री गुरुनानक जी की वंश-परम्परा सूर्य वंशी भगवान् रामचन्द्र जी के कुल से मिलती है। इसका उल्लेख सिक्ख संप्रदाय के अन्तिम गुरु श्री गोविन्दसिंह जी ने स्वरचित (विचित्र नाटक) में इस प्रकार किया है—श्री रामचन्द्र जी के लव और कुश नाम के दो पुत्र थे। वर्तमान लाहौर शहर जिसका पुराना नाम लवपुर था, लव ने बसाया और अपने नाम पर ही इसका नाम रक्खा था। कुश ने कुशपुर की नींव रखी' जो कि बिगड़ते-बिगड़ते आजकल 'कसूर' नामक शहर से प्रसिद्ध है। ये दोनों भाई बहुत देर तक उपरोक्त शहरों पर राज्य करते रहे। इनकी कई पीढ़ियों के उपरान्त लव की सन्तति से कालराय और कुश की सन्तति से कालकेत नाम के दो प्रसिद्ध राजा हुए। वे दोनों ही परस्पर बहुत देर तक लड़ते-झगड़ते रहे। अन्त में कालकेत दूसरे पर विजयी हुआ और कालराय भाग कर मथुरा और अनरकोर के मध्यवर्ती प्रान्त सनाड़े में जा बसा। वहां उसने किसी राजकन्या से विवाह कर लिया। उसके गर्भ से उत्पन्न हुए पुत्र का नाम सोढ़ीराय था। उसी सोढ़ीराय की सन्तति आजकल सोढ़ी क्षत्री प्रसिद्ध हैं। सोढ़ीराय की पाँचवी पीढ़ी में विजयराय नामक एक बड़ा वीर राजा हो गुज़रा है। जिसने पञ्जाब प्रांत पर आक्रमण कर वहाँ राज्य करने वाले कुश वंशीय राजाओं को बुरी तरह से हराया। वे कठिनता से अपनी जान बचाकर कहीं दूर देश में बसने लगे। उनमें कई एक सन्यास लेकर काशी की ओर चले

गये और वहाँ वेदाध्ययन में संलग्न हो गये। इन्हीं की सन्तति में से वेदी खत्री हुए।

इधर सोढ़ीराय की सन्तति में से विजयराय को भी वेद पढ़ने की इच्छा हुई और उसने वेदीराय नामक एक पण्डित से वेदों को पढ़ना आरम्भ किया। अन्त में वह राजा वैराग्य के वशीभूत हो पण्डित वेदीराय को ही सारा राज्य-भार सौंप कर स्वयं सन्यासी हो गया। वेदी वंश में एक अम्भोज राजा हुआ है, भाग्यचक्र से उसका राज्य केवलमात्र वीस ग्रामों पर ही रह गया। महमूद गज़नवी के आक्रमणों ने उसे भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। परन्तु फिर भी यह वेदी पिण्डीभट्टियां जिला लाहौर में किसी न किसी तरह आबाद रहे। इन्हीं के वंश में एक शिवरामदास वेदी हुआ है। जिसके दो पुत्र थे कालू और लालू। जिनका जन्म काल सं० १५०० विक्रमीय के लगभग है। इनमें कालूचन्द्र जी तलवण्डी के शासक रायवलार के प्रवन्धक थे। यही पूज्य गुरुनानक जी के पिता थे।

गुरु नानक जी का जन्म परिचय—

श्रीगुरुनानक जी का जन्म १५२६ विक्रमी कार्तिक शुदी पूर्णमासी के दिन रायभोय की तलवंडी जिसको अब ननकाना साहब कहते हैं हुआ था। इनके पिता का नाम कालू वेदी था जो कि खत्री वंशज था जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। गुरुजी की माता का नाम तृप्ता था। अपने नाना के घर उत्पन्न होने के कारण गुरुजी का नाम नानक रखा गया। कहते हैं कि दाई दौलतां ने उनके चाँद से मुखड़े को देख विस्मित होकर कहा कि मैंने अपनी सारी आयु में जितने भी बच्चे जनाये हैं इस

जैसा अद्‌भुत बच्चा आजतक कोई भी नहीं देखा। यह अवश्य ही बड़ा होकर संसार में अपना तथा अपने माता पिता का नाम उज्ज्वल करेगा। पुत्र-जन्म की शुभ सूचना पाकर कालू वेदी ने दीन-दुखियों में बहुत सा धन बाँटा। ज्योतिषी को बुला कर गुरुनानक जी की जन्म-कुण्डली दिखलाई। तब पण्डितजी ने ग्रह-चाल देखकर कहा कि आप का पुत्र एक अद्वितीय व्यक्ति होगा। जब तक यह संसार है तब तक इसका नाम जीवित रहेगा। गुरु नानक जी बचपन से ही अपने समवयस्क बालकों के साथ खेलते २ झट एकान्त में जाकर ऐसी समाधि लगाते जैसे कोई योगी अपने चिर-अभ्यस्त योगाभ्यास में व्यस्त हो। लड़कों से खेलते २ भी हर समय सत् करतार के भजन में मस्त रहते थे। उन्होंने बाल्य काल से ही ज्योतिषी जी की भविष्य-वाणी का परिचय देना आरम्भ कर दिया था। एक समय की बात है कि गुरु जी की मासी माई लक्खी अपनी बड़ी बहन से मिलने आई तो उसने नानक जी के इस तपस्वी जीवन को देखकर माई तृप्ता से कहा कि बहन! तेरा पुत्र तो पागल सा लगता है। गुरु साहिब भी वहीं पास ही खेल रहे थे आपने कहा—मासी! चिन्ता न कर तेरा पुत्र भी ऐसा (मुझ जैसा) ही होगा। सचमुच उसका पुत्र रामथम्बन भी वैसा ही निकला। बाबा रामथम्बन भी एक प्रसिद्ध वैरागी साधु हो चुके हैं। उनका स्थान कसूर के समीप रामथम्बन के नाम से प्रसिद्ध है। प्रति वर्ष वैसाखी को यहाँ बड़ा भारी मेला लगता है।

जब गुरुनानक आठ वर्ष के हो गये तब उनके पिता उन्हें हिन्दी संस्कृत पढ़ाने के लिये एक योग्य पण्डित वृजनाथ जी के

पास ले गये हैं। पं० जी ने गुरु नानक जी का बुद्धि-वैचित्र्य देखकर कालूचन्द्र से कहा—कि इसे तो व्यर्थ ही आप इधर उधर पढ़ने के लिये भेजते हैं। यह तो हमारे पढ़ाये विना ही सब कुछ पढ़ा हुआ है। बड़े २ धुरन्धर विद्वानों के भी कान खींचता है। आपको इसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। यह सर्व-गुण सम्पन्न है और सारी विद्यायें दूसरों की अपेक्षा कहीं अधिक जानता है। ज्यों-ज्यों गुरु नानक की आयु बढ़ती गई त्यों-त्यों वे सांसारिक झगड़ों से विरक्त होकर वैराग्य की ओर अधिक प्रवृत्ति हुए और लोगों को अपने २ धर्म में दृढ़ रहने की शिक्षा देने लगे। इस प्रकार तरह-तरह के उपदेशों से उनके चित्त को शान्ति देने लगे। गुरुजी का उपदेश सुनने तथा उनसे गुरु-मन्त्र ग्रहण करने के लिये पञ्जाब से ही नहीं बल्कि सारे भारत वर्ष तथा अन्य देशों से भी कई लोग संगतों के रूप में आया करते थे। गुरुजी स्वयं भी जगह-जगह फिर कर लोगों को सन्मार्ग पर चलने का उपदेश दिया करते थे लोगों को एक ही अकाल पुरुष की पूजा करने को कहते। उन्होंने अपने प्रान्त व देश ही में नहीं, बल्कि भारत से बाहिर काबुल, कन्धार, फारस, अरब, बगदाद, मक्का, मदीना, रोम, नेपाल, और चीन आदि विदेशों में जाकर भी मानव धर्म की शिक्षा दी और सिक्ख सम्प्रदाय का प्रचार किया। इसी कारण आजकल भारत से बाहिर भी उनके द्वारा स्थापित किये गये कई एक पवित्र स्थान मिलते हैं। ये स्थान सिक्ख सम्प्रदाय में बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं तथा पूजे जाते हैं।

गुरुनानक जी का विवाह पक्खोंके (ग्राम) जिला गुरु-

दासपुर में मूलचन्द खत्री की कन्या माता सुलक्खनी से २७प्रविष्ट जेष्ठ मास सम्वत् १५४५ विक्रमी को हुआ था। ५ श्रावण सम्वत् १५५१ वि० को गुरुजी के यहाँ एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। उसका नाम श्रीचन्द्र रक्खा गया, इसी श्रीचन्द्र ने उदासी पन्थ को जन्म दिया। फिर १५५२ वि० ५ फाल्गुन को दूसरे पुत्र लक्ष्मीचन्द्र का जन्म हुआ। इसकी सन्तान बेदी साहिबज़ादे हैं।

सिक्ख धर्म के आदिगुरु नानक जी की शिक्षा या धर्मिक सिद्धान्त-उनके अपने मतानुसार भिन्न-भिन्न जाति और सम्प्रदायों में विभक्त होकर रहना उचित नहीं। इन्द्रिय-दमन और चित्त-संयम को ही वे सर्वापेक्षा श्रेयस्कर बतलाते थे। आत्म-शुद्धि उनका मूलमंत्र था। विशुद्ध मन से केवल एकमात्र अद्वितीय ईश्वर की उपासना करना ही उनके मत में सर्व-प्रथम धर्माचरण था। नानक जी ने कई एक भूले भटके हिन्दुओं और मुसलमानों को सत्य मार्ग पर लाने का यत्न किया। उन्होंने वेद तथा क़ुरान के केवल पाठमात्र का भी खण्डन किया है। वे केवल ईश्वरोपासना को ही परम सुख की प्राप्ति का उपाय और जीवनमुक्त होने का साधन मानते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और मुसलमान सब एक ही परमेश्वर के पुत्र हैं, उनमें कोई ऊँच नीच का भेद-भाव नहीं, अतएव परस्पर घृणा तथा एक दूसरे पर अत्याचार करना वे घोर पाप समझते थे उन्होंने अपने पवित्र जीवन तथा उपदेश के शब्दों द्वारा इस बात पर खूब बल दिया है कि संसार को असार समझकर बौद्धों, जैनों तथा वेदान्तियों की तरह नहीं त्यागना चाहिये। सत्याचार उपासना का हिन्दुओं में प्राचीन काल से ही यह रिवाज चला आ रहा है कि घर में पुत्र या पुत्री

उत्पन्न होने पर शास्त्रोक्त विधि के अनुसार सूतक माना जाता है। इसी प्रकार गुरुनानक जी के यहाँ जब श्रीचन्द्र का जन्म हुआ तो घर वालों ने सूतक निवृत्यर्थ एक योग्य पण्डित को बुलाया पण्डितजी आवश्यक सामग्री एकत्र कर जब हवन आदि धार्मिक कृत्य आरम्भ करने लगे तो गुरुनानक ने पण्डित जी से प्रश्न किया कि आप यह क्या लीला रच रहे हैं। पण्डितजी ने उत्तर में निवेदन किया कि पुत्रों की उत्पत्ति के कारण जो आप के सूतक हो रहा है उसकी निवृत्ति के लिए मैं शास्त्रोक्त धार्मिक कृत्य कर रहा हूँ। गुरु जी ने विस्मित होकर कहा कि केवल एक बालक के उत्पन्न होने के कारण हमारे घर को सूतक वाला या अशुद्ध समझ कर आप शुद्ध करना बतला रहे हैं, परन्तु यह तो कभी भी शुद्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि ईश्वर-रचित प्रत्येक वस्तु में प्राण होने के कारण प्रत्येक प्राणी उन वस्तुओं को अपने प्रयोग में लाने से हर समय सूतक-ग्रस्त रहता है। इसलिए आपके कथनानुसार तो सदा ही सूतक बना रहता है। फिर उसकी शुद्धि कैसी ?

गुरुजी के मुखारविन्द से ऐसे शब्द सुन कर पण्डित जी कहने लगे, तो क्या आपके विचार में सारे ही श्रुति स्मृति झूठे हैं ? गुरु जी ने कहा झूठे नहीं, आप मेरी बात को अच्छी तरह से समझे नहीं। वास्तव में यह सूतक नहीं, जिसे आप सूतक समझ बैठे हैं। सच्चा सूतक तो कुछ और ही है।

जैसे—मन का सूतक लोभ है, जिह्वा सूतक कूड़।
अक्खीं सूतक देखना परतिरिया परधन रूप ॥
कन्नी सूतक कन परा लाइए बतारी खाये।
नानक हिंसा आदमी बद्धे यमपुर जाये ॥

अर्थात् मन का सूतक लोभ, जिह्वा का सूतक असत्य-भाषण, नेत्रों का सूतक दूसरे की स्त्री तथा पर धन को बुरी दृष्टि से देखना, कानों का सूतक अपने कानों से दूसरे की निन्दा सुनना। इसलिए हमेशा ही सूतक-युक्त रखने वाली ऊपर लिखी बातों से किनारा करना प्रत्येक मनुष्य के लिए परमावश्यक है। पण्डित जी गुरु जी के इन शब्दों को सुन कर निरुत्तर से हो गये और मन ही मन में उनके विचारों की सराहना करने लगे। गुरु जी के इस प्रकार के उच्च विचारों से प्रभावित हो कर बहुत सारे हिन्दू तथा मुसलमान उनके शिष्य हो गये। आप हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को ही एक समान समझते थे। जब कोई हिन्दू या मुसलमान उनके पास किसी प्रकार का उपदेश लेने आते तो आप उन्हें सच्चा हिन्दू या सच्चा मुसलमान बनने की शिक्षा देते। आप निःसंकोच भाव से कहते कि ईश्वर ने जन्म से न किसी को हिन्दू और न किसी को मुसलमान बनाया है। बल्कि जो उसकी आज्ञा का पालन करेगा वही उसके सामने सच्चा हिन्दू या मुसलमान सिद्ध हो सकेगा। हिन्दू हो या मुसलमान अथवा कोई अन्य मतावलम्बी हो, प्रत्येक को अपने किये कर्म ही काम आ सकेंगे। यदि कोई मनुष्य स्वार्थ या धार्मिक अन्धविश्वास के कारण किसी जीव से अत्याचार करेगा तो उसे अवश्य उसका फल भोगना पड़ेगा। अन्त समय सिवाये शुभ कर्मों के कोई भी दिखावे (नाममात्र) का धर्म साथ न देगा। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति का सर्व-प्रथम यही कर्तव्य होना चाहिए कि वह अनिष्टकारी अशुभ कर्मों का परित्याग कर शुभ कर्मों में तत्पर हो अपने परलोक के मार्ग को निष्कण्टक बनावें।

गुरु नानक जी के उपरोक्त स्वतन्त्र विचारों के कारण हिन्दू और मुसलमानों के तत्कालीन धार्मिक नेता कुढ़ते और उनसे ईर्ष्या करते थे। इसी कारण एक बार तो काज़ियों ने नवाब दौलतखां लोदी को गुरु जी के विरुद्ध खूब भड़काया और प्रार्थना की, कि यदि गुरु नानक अपने को परमेश्वर का परम भक्त मानते हुए हिन्दू मुसलमानों को समदृष्टि से देखने की घोषणा करते हैं, तो उनसे कहो कि हमारे साथ मसजिद में आकर नमाज़ पढ़ें। जब गुरुजी से नवाब ने पूछा तो आपने उसके उत्तर में कहा कि हमें ईश्वर की पूजा में सम्मिलित होने में किसी जगह भी कोई घृणा नहीं, चाहे जिस स्थान पर ईश्वर का नाम लिया जावे हम हर एक स्थान पर जाने को तय्यार हैं। अपने कथनानुसार गुरुनानक नवाब के साथ मसजिद में गये। जब मुसलमान लोग नमाज़ पढ़ चुके और गुरुजी को वैसे ही बैठा पाया तो नवाब ने उनसे मधुर शब्दों में कहा कि आप हमारे साथ नमाज़ पढ़ने में सम्मिलित क्यों नहीं हुए।

गुरुजी ने उत्तर में कहा कि नवाब साहब आप तो नमाज़ पढ़ते समय काबुल में घोड़े खरीद रहे थे और काज़ी साहब अपने घर में अपनी घोड़ी के बच्चे की ओर ध्यान लगाये बैठे थे कि कहीं वे कूएं में न गिर पड़े। भला अब आप ही बताएं कि हम किसके साथ नमाज़ पढ़ते, जबकि आप लोगों का ध्यान तो सांसारिक वस्तुओं के अन्दर फँसा हुआ है। जब काज़ी साहब से पूछा गया तो उसे भी इस सत्यता को स्वीकार करना पड़ा। बस वहीं पर वे दोनों गुरु जी के शिष्य बन गये। उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास हो गया कि गुरुजी एक पहुँचे हुए महात्मा हैं।

गुरु जी का स्वदेश भ्रमण

जब गुरू नानकदेव जी ने देखा कि हर समय शिष्य-मंडली के पास रहने के कारण ईश्वर-चिन्तन का समय मिलना कठिन है तो आप वंश परम्परागत मरदाना नामक अपने मरासी को अपने साथ लेकर सुलतानपुर से चल दिये। वे जिस शहर या गांव में जाते लोगों को सत्यमार्ग पर चलने का उपदेश देते और भाई मरदाना गुरु नानक जी के रचे हुए शब्द लोगों को गाकर सुनाता, जिनसे श्रोतागण बहुत प्रभावित होते। मार्ग में गुरु साहब कई एक फकीरों को मिलते जुलते लाहौर पहुँचे। उन दिनों गुरू जी जिस स्थान पर ठहरे हुए थे उस जगह अभी तक उनकी स्मृति में एक स्थान बना हुआ है। लाहौर से चलकर आप एमनाबाद पधारे और अपने प्रिय भक्त भाई लालू नामक बढ़ई के पास कुछ दिन रह कर अपने प्रेमियों को उस अकाल पुरुष का उपदेश करते रहे। परन्तु कुछ एक उच्च जाति के लोगों को गुरु महाराज का लालू बढ़ई के पास निवास करना अनुचित प्रतीत हुआ। इसलिए उन्होंने गुरु जी से प्रार्थना की कि आप हमारे पास आकर ठहरें। परन्तु उन्होंने उन लोगों की इस प्रार्थना को अस्वीकार करते हुए उत्तर में उनसे यों कहा, कि आप लालू बढ़ई को शूद्र जाति का समझ कर मुझे अपने पास ठहरने के लिए विवश क्यों कर रहे हैं। आप सच जानिए कि मैं उसके प्रेम-पाश में बँधा हुआ ही एमनाबाद आने को विवश हुआ हूँ। एमनाबाद से चलकर गुरु नानकजी महाराज स्यालकोट की जनता को धर्मोपदेश करते हुए अपनी जन्म-भूमि तलवण्डी में वापिस लौट आये। कुछ दिन यहां विश्राम करने के

बाद अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए पूर्व की ओर चल पड़े। सर्वप्रथम आप चूनियाँ शहर में पहुँचे और वहां शेख दाऊद से मिल कर वे बहुत प्रसन्न हुए। कुछ दिन उनके साथ धर्मचर्चा करते हुए फिर सतलुज पार कर मालवा जा पहुँचे। कुछ काल वहाँ की जनता को अपने उपदेशामृत से तृप्त कर गंगा के तट कनखल में जा पहुँचे, यहां इसी वक्त कुम्भ का मेला था। उन्हों ने अपने मत के प्रचार का यह सर्वोत्तम समय जान कर लोगों में खूब धर्म-प्रचार किया। आपकी अमृतमयी वाणी को सुन कर बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान चकित रह गये। वहां आये हुए लोगों पर उनके उपदेश का इतना प्रभाव पड़ा कि हजारों ही व्यक्ति आपके शिष्य बन गये। आपके भक्तों ने इस पुण्य स्मृति के लक्ष्य में वहां एक गुरुद्वारा बनवा दिया। जो आजकल भी विद्यमान है। वहां से आप सीधे ही भारत की राजधानी देहली पहुँचे।

गुरु नानकदेव जी ने देहली पहुँचने पर अपना डेरा मजनूं के टीले के समीप लगाया, वहां भी आपकी स्मृति में एक गुरुद्वारा बना हुआ है। उन दिनों देहली के राजसिंहासन पर सिकन्दर लोदी विराजमान था। वह अपने अत्याचारों के कारण बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति माना जाता था। विशेषतः वह साधुओं महात्माओं के साथ तो बहुत ही बुरा व्यवहार करता था क्योंकि उसके मन में यह बात पूरी तरह से अङ्कित हो चुकी थी कि साधु महात्मा और फकीर लोग बहुत ही सिद्धियां अपने पास रखते हैं, और सेवा करने पर भी किसी को बतलाते नहीं। बादशाह को इन सिद्धियों को जानने का बड़ा शौक था, इसी कारण उसने

सैकड़ों ही साधु महात्माओं को बड़े २ कष्ट पहुँचाए। भक्त कबीर को गङ्गा में बहाया, नामदेव को हाथी के पाँवों तले कुचलवा डाला और रविदास को मकान की छत पर से गिरवा दिया था। इसके अतिरिक्त हज़ारों ही हिन्दू साधु और मुसलमान फकीरों को इस बादशाह ने बन्दी बना रक्खा था। जब बादशाह को इस बात का पता चला कि कोई नया एक हिन्दू फकीर आजकल देहली में आया हुआ है तो उसने अपने नौकरों को उसे पकड़ लाने की आज्ञा दी। आखिर गुरु नानक जी भाई मरदाना और भाई बाला सहित पकड़ कर बादशाह लोदी के सामने पेश किये गये। इन्हें भी दूसरे बन्दियों की भांति बन्दी बना लिया गया और चक्कियां गल्ला पीसने के लिये उनके सामने रख दी गईं। भाई मरदाना ने घबरा कर गुरुजी से कहा कि आपके साथ आने का हमें अच्छा फल मिला, अब तो बिन आई मौत मरना पड़ेगा। गुरु नानक जी ने उत्तर में उससे कहा कि तुम सब फकीरों से कह दो कि वे चक्कियों को बिल्कुल हाथ न लगावें। सब फकीरोंने ऐसा ही किया। दूसरे दिन प्रातः गुरु नानक जी ने मरदाना को रबाब बजाने की आज्ञा दी और स्वयं शब्दोंका गाना आरम्भ कर दिया। शब्दों का उच्चारण करने का विलम्ब था कि सारी ही चक्कियां स्वयं चलने लग पड़ीं। बादशाह का महल समीप होने के कारण उन मधुर शब्दों को उसने भी सुना। उसके दिलपर उनका बहुत भारी प्रभाव पड़ा। ठीक उसी समय जेल के दारोगा ने बादशाह की सेवा में उपस्थित होकर प्रार्थना की कि एक फकीर जब गाता है तो सारी चक्कियां चल पड़ती हैं। यह खबर पाते ही बादशाह स्वयं जेल में गया और वहां खुद चक्कियों को चलता हुआ देखकर बहुत

विस्मित हुआ और अपने अनुचित व्यवहार से लज्जित होकर क्षमा याचना करने लगा। गुरुजी ने कहा कि तुम निर्दोषी फकीरों को बन्दी बनाकर अपने परलोक के मार्ग को कण्टकाकीर्ण बना रहे हो। इसलिये तुम यदि अपना भला चाहते हो तो तुरन्त ही इन्हें मुक्त कर दो। नहीं तो तुम्हारा राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जावेगा। बादशाह ने उसी समय सब फकीरों को मुक्त कर दिया। वे सारे फकीर गुरु जी के बहुत ही कृतज्ञ हुए! इसी कारण दूर दूर तक गुरुजी की प्रसिद्धि फैल गई। बादशाह ने क्षमा याचना करते हुए बहुत सा धन गुरुजी की सेवा में भेंट करना चाहा, परन्तु उन्होंने एक कौड़ी तक लेना भी स्वीकार न किया। गुरु नानक जी देहली से चल कर अलीगढ़ होते हुए मथुरा वृन्दावन जा पहुँचे। वहाँ कई दिन रहकर वे कई एक सन्त महात्माओं से मिले और लोगों में धर्म-चर्चा करते रहे। यहां पर गुरु जी के उपदेश का बड़ा प्रभाव पड़ा। इस कारण हज़ारों ही लोग गुरुजी के मतानुयायी बन गये। फिर वे काशी जी गये और वहाँ पहुँचकर नामदेव रविदास और भक्त कबीर आदि कई एक सन्त महात्माओं के दर्शन कर पटना की ओर चल दिये। वहां के लोगों में सद्धर्म का उपदेश करते हुए गुरु जी कई दिन रहे। यहां इनकी स्मृति में अभी तक एक गुरुद्वारा भी बना हुआ है। पटना से राजगिरि व विहार प्रान्त के कई एक नगरों से चक्कर काटते हुए प्रसिद्ध तीर्थ गया में पहुँचे। कई दिन वहां रहकर लोगों में धर्म-प्रचार करते रहे। फिर वहां से चलकर विन्ध्याचल की तराई में होकर मार्ग में अनेको स्थानों पर धर्म-प्रचार करके गुरु जी जबलपुर जा पहुँचे फिर भूपाल, झांसी, ग्वालियर आदि कई शहरों में होते हुए

पञ्जाब प्रान्त करनाल में आ गये। वहां पर फकीर शमशुद्दीन तथा जलालुद्दीन आदि कई एक प्रसिद्ध मुसलमान फकीरों के साथ अपने धर्म तथा मत की चर्चा कर सतलुज नदी को पार करते हुए सुलतानपुर रियासत कपूरथला में वापिस लौट आये। अपनी बहिन तथा उस के दीवान जयराम को देश-भ्रमण के वृतान्त सुनाने लगे। इस प्रकार चारों ओर गुरुजी ने सद्धर्म का प्रचार किया। घर में आकर भी गुरु साहिब ने धर्म उपदेश देना नहीं छोड़ा। कबीर की भाँति अपने पुत्रों की दशा देखकर गुरुजी बहुत चिन्तित रहते थे। उनकी तरह प्रतिभाशाली या ज्ञानवान उनके पुत्र न थे। मनुष्य को संसार में सत्य मनन का सेवन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये; इस शिक्षा व सिद्धान्त की परीक्षा में उनके पुत्र पूरे न उतरे। इसी कारण गुरु नानकजी ने अपने दोनों ही पुत्रों को अपना उत्तराधिकारी न बनाकर अपने दृढ़ भक्त और पूर्ण विश्वासी (लहना) जो कि बाद में गुरु अंगद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसे अपनी गद्दी का उत्तराधिकारी घोषित कर ६९ वर्ष १० मास १० दिन। आश्विन वदी दशमी संवत् १५९६ प्रातः काल आप इस असार संसार को परित्याग कर स्वर्ग लोक को सिधारे। बेदी परिवार के सूरज तथा श्रीभगवान के अनन्य उपासक गुरुवर नानक देव जी जिस समय परलोक यात्रा को प्रस्थान करने लगे, उनके मुरीदों ने किञ्चित् शोक प्रकट किया। गुरु नानक जी ने अपने लड़कों को समझाया कि जिसका इस संसार में जन्म हुआ है उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। अतएव हमें मृत्यु को प्राप्त होने में प्रकृति की ही इच्छा प्रबल समझनी चाहिए। ईश्वर इच्छा पूर्ण हो, मनुष्य को चाहिए मृत्यु पर शोक प्रकट न करे।

गुरु जी ने तदनन्तर उपदेश देते हुए अपने पुत्रों से कहा— श्री परमात्मा के स्मरण में बाधा न आने दो, सदैव ध्यान श्रीचरणों में लगाए रखो। दया और क्षमा मनुष्य के सर्वोत्तम गुण हैं। सदैव सदय और क्षमाशील बने रहो। अपराधी को क्षमा कर देना, बदला लेना का विचार न रखना तथा दलित पीड़ित और रोगी के लिये सदैव दया का भण्डार खुला रखना। धर्म के पालन में तत्परता दिखाना। धर्म के लिए प्राण न्यौछावर करने को सदा अपनी कमर कसे हुए रखना। यदि मेरे कथन के अनुसार जीवन बिताओगे तो लक्ष्मी तुम्हारे मार्ग में पलकें बिछाए रखेगी। चिन्ता जीवन को हानि पहुँचाती है। ईश्वर-चिन्तन आत्मा की उन्नति करता है।

अपने अंतिम क्षणों में श्रीपूज्य गुरुदेव नानक देव ने सिक्ख भाइयों के प्रति अपना अन्तिम संदेश दिया। आपका कहना था कि ईश्वर भक्ति और देशभक्ति में कभी कसर न छोड़ना। विदेशी शासक अत्यन्त प्रबुद्ध तथा कूटनीति के पालन करने वाले हैं। इन विदेशियों के हाथों से मातृभूमि को स्वतंत्र कराना तथा अपने वीर पूर्वजों के पदचिह्नों पर चलते हुए अमर कीर्ति प्राप्त करना।

सिक्खों को चाहिए हरि का निरन्तर पूजन करें। मन, वचन और कर्म से शुद्ध रहें। आत्मा और परमात्मा की एकता को समझने की कोशिश करें। सत्य संसार का सब से ऊँचा ज्ञान है। जिसने सत्य की साधना की है उसे किसी वस्तु का भय नहीं। सेवा संसार की सर्वश्रेष्ठ भावना है जिस व्यक्ति ने प्राणियोंकी सेवा में जी लगाया, उसके कल्याण में कोई भी संदेह नहीं। परमात्मा के नाम स्मरण पर गुरुजी ने बहुत जोर दिया है। आपने कहा है कि एकाग्र चित्त से ध्यान करना आत्मा को जागृत करने में सहायक

होता है। नाम-जाप के समय या ईश्वर-पूजन के समय चित्त का डांवाडोल रहना श्रेयकर नहीं। मन को एकाग्र करके परमेश्वर के ध्यान में लवलीन होकर प्रभु के नाम को याद करना चाहिए।

भजन में सावधान रहो और शुभ कर्म करो। भजन के उपरान्त गुरु नानक देव कर्म को महत्ता देते थे। कर्म जीवन में प्रधान है। कर्म करने में मनुष्य स्वतंत्र है। इसलिये गुरु जी ने उपदेश किया कि मनुष्य शुभ कर्म करे। भले कर्म आत्मा को जगा देते हैं। गुरु नानक अपने मन्तव्यों के पक्के थे। उनके चलाए हुए पंथ में बहादुरी, ईमानदारी और परोपकार ही प्रमुख हैं। गुरु नानक अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिये भ्रमण करते थे अपने मन्तव्यों के वास्ते प्राण तक देने को भी तैयार रहते थे। आपके तेज और बल की जितनी महिमा गाई जाए उतनी ही थोड़ी है।

"जात पात नहीं पूछे कोई। हर को भजे सो हर का होई॥

ऐसी थी ओजपूर्ण गुरुदेव की वाणी। कहते हैं आपके उपदेशामृत को पीकर बादशाह सिकन्दर लोदी का गुरु सैयद अहमदशाह एकबारगी आपका प्रशंसा करने वाला और चेला बन गया था। नानक देव के विचारों को सुनकर फकीर गुरुजी के चरणों में गिर गया। इसी प्रकार एक पंडा भी आपके विचारों को सुनकर आपका शिष्य हो गया था। वह छूआ-छूत में उलझा हुआ था। आपकी वाणी सुनकर उसे तुरन्त ज्ञान हुआ और उसके मन से छूआछूत का भेद मिटा।

एक सज्जन ठग की कथा प्रसिद्ध है। वह व्यक्ति अपनी बनवाई हुई मस्जिद और मंदिर में यात्रियों को ठहराता तथा उनकी सेवा सुश्रूषा करता। अन्त में यात्रियों को मारकर उनका धन ठग लेता था। इस सज्जन के भय से सभी भले आदमी भय खाते थे। जब

नानकदेव को इस ठग का पता चला तो वे कुछ समय के लिये उसी की सराय में विश्राम करने के लिये गए। वहां ठग ने गुरुजी की बड़ी सेवा की और अन्त में जब वे जाने लगे तो उनका माल चुरा लेना चाहा। इस धारणा को जानकर गुरुवर नानक ने एक छन्द कहा, जिस छन्द को सुनकर उस ठग की आत्मा की समस्त कालिमा धुल गई और वह तुरन्त ही ठगी छोड़ कर एक भला आदमी बन गया।

इस प्रकार अपनी ओजस्विनी वाणी द्वारा श्रीनानकदेव ने अनेक दुरात्माओं का कल्याण कर दिया। साधु-संतों की वाणी में प्रजा वर्ग के विचारों को बदल देने की भी शक्ति होती है। गुरुदेव अपने शब्दों द्वारा सदैव मानवता की भलाई में तल्लीन रहे। उन्होंने कभी आलस्य और अकर्मण्यता को पास तक नहीं फटकने दिया। आपका कथन है कि जाति में बाधा डालने वाले इन दोनों दुश्मनों का सर्वनाश करना प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति का प्रथम धर्म है।'

सन्तवर गुरु नानक देव ने देवी देवताओं की उपासना का उपदेश नहीं दिया है। आपके मतानुसार केवल एक ही परम ब्रह्म प्रभु है जिसकी अटूट भक्ति करना ही मनुष्य का धर्म है। मूर्ति-पूजा आदि में गुरु साहब की प्रतीति नहीं थी। आपने साकार ब्रह्म का अस्तित्व मानने से इनकार किया है। आप तो निराकार एक ब्रह्म के अनन्य उपासक थे और उसी एकमात्र विभूति की पूजापाठ का एकमात्र उपदेश आपने किया है।

मनु हाली किरसाणी करणी सरमुधाणी तनु खेतु। नाम बीज संतोष सुहागा रखुगरीबी वेसु। भाऊ करम करि जमसी से घर भागठ देखु॥ ॥ बाबा माया साथ न होई। इन माया जग मोहिआ विरला बूझै कोई॥

श्रीवर गुरु नानक देव ने कहा है—तुझे यदि खेती करने का ही शौक है तो इस प्रकार की खेती कर। अपने तन-रूपी खेत में मन को हल जोतने वाला बना। सारांश यह कि तू शुभ कर्मों में चित्त लगा, तथा नीच कोटि के कर्मों से किनारा कर। भगवत भजन में किसी प्रकार की कमी न आने दे। इस जगत में शुभ कर्म ही मुक्ति दिला सकते हैं। मुक्ति प्राप्त करने के अभिप्राय से आत्म-शुद्धि करनी चाहिये। श्रीनानक देव ने बताया कि जिन दूषित कार्यों के करने से आत्मा का हनन होता है उन कर्मों को करना तो दूर रहा, उनके पास तक मत फटको। अपने खेत में श्रीभगवान का नाम-रूपी बीज डालना चाहिए तथा फिर दीनता भाव को लेकर खेती की देख-भाल करते रहना चाहिए। संतोष और धीरज मनुष्य के दैवी लक्षण हैं। सदा हृदय में इन को विराजमान रखना चाहिए। तदनन्तर श्री गुरुदेव का कथन है कि ईश्वर की कृपा और अपने भाव-रूपी प्रेम से ज्ञान के उज्ज्वल क्षेत्र का दिग्दर्शन होगा। जिस घर में ऐसी खेती होती है, निःसन्देह वह घर भाग्यशाली है। वह व्यक्ति धन्य है जो ज्ञान प्राप्त करने में दत्तचित्त रहता है।

श्री गुरुदेव का मत है कि माया ठगिनी है। यह व्यक्ति को अपने जाल में उलझाना चाहती है परन्तु याद रखना चाहिए कि माया प्राणियों को मोह की फांस में गांठ लेती है। माया इसी भौतिक संसार का जंजाल है, यह किसी के साथ नहीं जाती। यह तो हमारे शुभकर्म हैं जो हमारे साथ जाते हैं। धन, दौलत इसी मिट्टी के पुतले हैं और इसी मिट्टी में मिल जाते हैं। ज्ञानी पुरुष इनमें जी नहीं लगाता है। बुद्धि माया के छल को हर लेती है। इस लिए हमें माया इकट्ठी नहीं करना है वरन ज्ञान का भंडार भरना है।

मिहर मसीति सिदकु मुसल्ला हकु हलालु कुराणु।
सरम सुनति सीलु रोजाणु होहु मुसलमा।
करणी काबा सचु पीर कलमा करम निवाज।
तसवी साति सुभावसी नानक राखै लाज॥१॥
हकु पराया नानका उसु सुअर उस गाइ।
गुरू पीरू हमाता भरेजा मरूदारू न खाइ।
गली भिसती न जाइयै छुटै सचु कमाइ।
नानक गोल कुड़ोई कूड़ो पल्लै पाई॥२॥
पंजि निवाना वखत पंजि पंजा पंजे नाऊ।
पहिला सचु हलाल दुइ तीजा खैर खुदाई।
चौथी नीयति रासिमन पंजवी सिफत सुनाई।
करणी कलमा आखि कै ता मुसलमान सदाई।
नानक जीते कूड़िआर कूड़ै कूड़ी पाई।

(वार माझ)

श्री गुरूनानक देव ने उक्त पद में अधिकार और अनधिकार की व्याख्या करते हुए दर्शाया है कि मनुष्य को परमात्मा की प्राप्ति के लिए नीचे लिखे हुए साधन करने चाहिएँ। बुद्धि को पवित्र बनाए विना चाहे कितने ही धर्म कर्म क्यों न करो कुछ भी लाभ नहीं होता दूसरे मनुष्य को प्रभु प्राप्त करने के लिए हिंसा का पल्ला बिल्कुल छोड़ देना होगा। अहिंसक वृत्ति के धारण किए विना मन का मैल नहीं छूटता। जब तक मन का मैल नहीं धुलता, आत्मा का प्रकाश नज़र नहीं आता। कलमा पढ़ना और नमाज़ करना दोनों ही तब हमारे काम आसकते हैं जब हम चित्त, को शुद्ध करके अहिंसा को सच्चे रूप से धारण करेंगे। मन की पवित्रता मन को एकाग्र करने में सहायक होगी और एकाग्र मन से परमात्मा का अच्छा स्मरण होता है। बिना एकाग्रता के प्रभु-भक्ति करना नितान्त

असार है । परलोक को उज्ज्वल बनाने के लिए आत्मा का कल्याण करना आवश्यक है ।

कुबुधि डुमणी कुदइआ कसाइण पर निंदा घट चूहड़ी मुठि क्रोधि चंडाली कारी कढ़ी किआ थीऐ जां चारे बैठी आ नालि। सच संजमु करणी कारां नवाण नाउ जपेही । नानक अगै ऊत्तम सोई जि पापां पंद न देही ।

एक पंडा को छूआछूत के संबंध में ज्ञान देते हुए श्री गुरुदेव नानक साहब ने बताया कि मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु उसकी कुबुद्धि है । मनुष्य की बुद्धि ही उसे सत या असत मार्ग पर लगाती है जिसकी बुद्धि शुद्ध है वह निःसंदेह सही मार्ग ढूंढने में सफल होता है, जिसकी बुद्धि ही दूषित है वह अपना मार्ग नहीं ढूंढ सकता. वरन वह जान बूझ कर भी कुमार्ग पर चलता है । पर निन्दा और दूसरे के प्रति किसी प्रकार का छोटा या नीचा भाव रखना मनुष्य की आत्मा की उन्नति में बाधक है । मनुष्य अपने लक्षणों पर ध्यान दे. अपने ही भले बुरे को देखे । उसे क्या आवश्यकता है कि पराए आचरणों की आलोचना करे । अपने को अच्छा समझना अन्य को नीचा और बुरा समझना पाप है । जो व्यक्ति दूसरे के केवल सद्गुणों को देखता है वह महात्मा है. लेकिन जो व्यक्ति दूसरों के दोषों पर ही दृष्टि डालता है उसका कल्याण तीनों लोकों में कहीं नहीं हो सकता । क्रोध की अग्नि में मनुष्य की स्मृति झुलस जाती है और वह सम्मोहन का भागी हो जाता है । इसलिए. बुद्धिमान व्यक्ति के लिए क्रोध करना हानिकारक है । क्रोध हमारी मानसिक वृत्ति को [illegible] है । सत्य बोलना और सत्य व्यवहार करना ही सबसे अच्छा ज्ञान है । सत्य कर्म से आत्मा का विकास होता है । समस्त जड़-चेतन संसार में एक ही परम सत्य [illegible]

यहां अस्पृश्य कोई भी मनुष्य नहीं है। सभी वर्ग के स्त्री पुरुष परमात्मा के उत्पन्न किए हुए हैं। सभी पर उस प्रभु की एक जैसी कृपा है सबमें ब्रह्म का अस्तित्व देखना हमारे अध्यात्म की सबसे अच्छी मंजिल है। जब प्रत्येक प्राणी में एक ही सच्चिदानन्द ब्रह्म निवास करता है फिर कैसी छूआछूत।

प्रभु के पास ऊँच नीच का विचार नहीं। जो प्रभु को प्रेम से स्मरण करता है प्रभु उसके हृदय में सस्नेह चिरकाल तक निवास करते हैं।

लाइ चितु करि चाकरी मंनि नामु करि कंमु।
बंनु बदिआ करि धावणी ताको आखै धनु॥
नानक वेखै नदरि करि चड़ै चवगण वंनु॥

परमपूज्य गुरू नानक देव की पवित्र वाणी का जितना अध्ययन किया जाय उतना ही आत्मा परमात्मा के निकट पहुँचता है। आपका कथन है कि प्रत्येक समय ब्रह्म के ध्यान में निमग्न रहो। प्रत्येक वस्तु में उसी अकाल ज्योति का आभास विद्यमान है। इसका अर्थ यह नहीं कि संसारी मनुष्य अपना रोजगार धंधा छोड़कर हरिनाम स्मरण करने वाले संन्यासी बन जावें। गुरूजी का यह भाव था कि सौदागार अपना काम भी करे और हरि का ध्यान भी रखें। इसी प्रकार आपने जहां यज्ञोपवीत का प्रश्न उठाया है वहां भी बताया है श्वेत तागा धारण करने से परमात्मा के दर्शन नहीं हो जाएंगे न ही उससे ब्रह्म प्राप्त हो सकता है। ब्रह्म प्राप्ति के लिए तो मनुष्य को यज्ञोपवीत के साथ दया, संतोष, संयम आदि शुभ लक्षणों को ग्रहण करना पड़ेगा। जिस ब्राह्मण ने केवल यज्ञोपवीत धारण किया हुआ है और जिसके मन में दया धर्म नहीं है वह तीन काल भी आत्मा को शुद्ध करके ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता।

वीर-शिरोमणि गुरु गोविन्दसिंह जी

गुरु गोविन्दसिंह सिक्खों के दसवें और अन्तिम गुरु थे। सिक्ख संप्रदाय के दस गुरुओं में इनका अद्वितीय स्थान है। यों तो गुरु गोविन्दसिंह जी से बहुत पूर्व आदि गुरु नानक देव ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों तथा अन्य सम्प्रदाय अवलम्बियों को यह शिक्षा दी थी कि ईश्वर निराकार तथा एक है। उनके इस मत को मानने वाले सिक्ख कहलाये, जिनका कि गुरु तेग-बहादुर (नवम गुरु) तक धार्मिक संप्रदाय के अतिरिक्त राजनीति के रंग मञ्च पर कोई स्थान न था।

गुरु तेगबहादुर के समय मुगल सम्राट् औरंगजेब दिल्ली के सिंहासन पर आसीन था। मुगल साम्राज्य के इतिहास को कलंकित करने वाला एक मात्र यही अन्तिम सम्राट् हुआ है। इसने प्रजा पर अधिक से अधिक अत्याचार किये। लाखों हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाया। कई हिन्दू और सिक्ख गुरु तेगबहादुर की शरण में आये जिन्हें गुरु जी ने पनाह दी। इन्हीं दिनों गुरु तेगबहादुर जयपुर के राजा जयसिंह के साथ आसाम को जाते समय परम पूज्या माता तथा अपनी गर्भवती स्त्री माता गुजरी को अपने श्वसुर कृपालदास के पास पटना में छोड़ गये थे। वे अभी आसाम में ही थे कि इनकी अनुपस्थिति में सम्वत् १७२३ विक्रमी ज्येष्ठ शुक्ला सप्तमी शनिवार को आधी रात के समय गुरु गोविन्दसिंह का जन्म हुआ। किन्तु कोई २ इनकी जन्मतिथि पौष शुक्ला सप्तमी मानते हैं।

गुरु गोविन्दसिंह जी ने स्वरचित 'विचित्र नाटक' ग्रन्थ में यों लिखा है कि "पूर्व जन्म में मैं दुष्टदमन नाम का राजा था और अपनी प्रजा को पुत्रवत् समझता हुआ धर्म-पूर्वक राज्य करता था। वृद्धावस्था के कारण अपने पुत्र विजयराय को राज्य-भार सौंप कर हेमकूट नामक पर्वत पर मण्डन ऋषि से उपदेश लेने के लिए गया और वहाँ पद्मासन लगाकर महाकाल पुरुष के ध्यान में संलग्न हो गया। तपस्या करते अभी कुछ ही समय हुआ था कि भगवान् महाकाल पुरुष ने मुझे अपने शुभ दर्शन से कृतार्थ किया और "निजपुत्र" की पदवी से सुशोभित करते हुए कहा कि मेरे सब अवतार स्वयमेव ईश्वर कहलाये हैं पर तुमने अपने आपको 'ईश्वर का अवतार न कहलवा कर' "ईश्वर का सेवक" प्रसिद्ध करना। इसके उपरान्त गुरु तेगबहादुर जी के यहाँ मेरा जन्म हुआ।

गुरु गोविन्दसिंह जी के जन्म के १०—११ मास उपरान्त जब गुरु तेगबहादुर आसाम से पटना वापिस आये तो बहुत से सिक्ख पंजाब, सिन्ध, मुलतान, काबुल तथा कन्धार आदि दूर दूर के प्रान्तों से गुरु गोविन्दसिंह जी के जन्म के उपलक्ष्य में बहुमूल्य तथा तरह-तरह की उपहार लेकर गुरु तेगबहादुर की सेवा में उपस्थित हुए। चारों ओर आनन्द के शामियाने बजने लगे। जगह-जगह से गुरु जी को बधाई देने के लिये टिड्डी दल की तरह उनके शिष्य-गण पुत्रोत्सव में भाग लेने के लिये उमड़ पड़े। सब ने अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार गुरु जी के चरण-कमलों में तन, मन, धन अर्पण किया। गुरु जी ने भी पुत्र-जन्म के खुशी में दीन-दुखियों को भाँति-भाँति के

पकवानों से प्रसन्न किया और ब्राह्मणों, निर्धनों तथा कन्याओं को भी जी खोलकर दान दिया। विधवाओं और यतीम बच्चों की अधिक से अधिक सहायता की। गुरु गोविन्दसिंह के मामा कृपालचन्द्र जी ने उपहार लेकर आये हुए शिष्यगणों का यथा-योग्य सम्मान कर बड़े आदर से उन्हें विदा किया। साथ ही यह प्रार्थना भी की कि कभी-कभी अवश्य दर्शन दिया करें। ईश्वर की अपार लीला है—गुरु गोविन्दसिंह शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चाँद की भाँति दिन दुगुनी और रात चौगुनी उन्नति करते हुए अपनी बाल-लीलाओं से माता पिता तथा बन्धु-बान्धवों के मन को मोहित करने लगे। परन्तु इनकी बाल-लीलाएँ भी अन्य बालकों की अपेक्षा कुछ विचित्र ही थीं। वे कभी लड़कों को इकट्ठा कर उन्हें दो दलों में विभक्त कर देते। एक दल के सरदार स्वयं बन जाते और दूसरे दल का सरदार किसी अन्य बालक को बनाते। किसी विशेष वस्तु को लक्ष्य रखकर दोनों दलों में संग्राम आरम्भ हो जाता। प्रत्येक दल एक दूसरे पर विजयी होने का पूर्ण परिश्रम करता। फिर इन दोनों दलों में जो दल विजयी होता उस दल के बालकों को अपने पास बिठाते और उनका यथोचित सम्मान करते। जिस बालक ने विशेष उत्साह या परिश्रम दिखाया होता उसे बड़े प्रेम से मिलते तथा उचित पुरस्कार भी देते। कभी २ विजयी बालक पर इतने प्रसन्न हो जाते कि अपना दुपट्टा ही उसे ओढ़ा देते थे। कभी किसी स्थान को किला मान कर एक दल उस पर चढ़ाई करता और दूसरा दल उसकी रक्षा करता। कभी धनुष-बाण लेकर लक्ष्य-भेदन की होड़ लगाते। देखें किसका तीर सबसे आगे जाता है और लक्ष्य-भेदन करता है। जिसका तीर सबसे आगे निकलेगा उसे ही हम अपना राजा

मान लेंगे। फिर इस शर्त के अनुसार जिसका तीर सब से आगे निकलता था उसे वह राजा की उपाधि देते। सब बालकों को उसकी आज्ञा मानने का उपदेश करते। यहाँ तक कि वीरता-पूर्ण कोई भी कार्य करने में उन्हें बड़ा आनन्द प्रतीत होता था। आप बाल्यावस्था से ही बड़े निर्भीक थे। कहते हैं कि—एक बार गुरु गोविन्दसिंह अपने समवयस्क बालकों के साथ खेल रहे थे कि अकस्मात् उधर से पटना के कोतवाल का आगमन हुआ। चोबदार ने खेल में लगे बालकों से कहा कि कोतवाल साहब इधर पधार रहे हैं इसलिए उन्हें सब झुक कर प्रणाम करें। चोबदार के कथन की हँसी उड़ाते हुए आपने साथी बालकों को कहा कि तुम कभी भूल कर भी उसको प्रणाम न करो प्रत्युत उसको चिढ़ाओ। गुरु गोविन्दसिंह की इस प्रकार की चेष्टाओं को देख कर कोतवाल भौंचक्का-सा रह गया। बालक गोविन्दसिंह इस प्रकार साहस और वीरोचित अलौकिक बाल-लीलाओं से देखने वालों को ऐसे विस्मित कर देता था कि मानो वीरता और युद्ध-प्रियता ही इनकी जननी है और वे उसके एकमात्र औरस पुत्र हैं जो उत्पन्न होते ही अपने वास्तविक रूप का परिचय देने लग पड़े हैं। उस समय कुछ वायु-मण्डल ही ऐसा विचित्र हो चुका था कि गुरु तेगबहादुर जी के सुपुत्र में बाल्यावस्था से ही वीरोचित गुणों का होना एक स्वाभाविक बात थी। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। प्रकृति जिस किसी को भी जिस कार्य के उपयुक्त बनाती है उसे उस कार्य में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए किसी विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह संकेत मात्र से ही अपने वास्तिक रूप को पहचानने लग पड़ता है। संसार में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि सिंह-शावक बिना किसी प्रकार

की शिक्षा प्राप्त किये ही—मदोन्मत्त हाथी के मस्तक को अपने बाहुबल से चकनाचूर कर देता है। साँप का सद्यः प्रसूत बच्चा किसी भी जीव के प्राणों को क्षणमात्र में ही हर लेता है। बिल्ली के बलूंगड़े को चूहों का पकड़ना कौन सिखाता है। केवल अपनी माता द्वारा पकड़े जा रहे चूहों को देख कर ही वह स्वयं भी उन्हें पकड़ना सीख जाता है। इसी प्रकार बाज़ के बच्चों का चिड़ियों पर झपटना भी स्वाभाविक ही है। मनुष्य अपने पूर्व जन्म के संस्कारों के अनुसार बाल्यावस्था में ही अपने माता पिता के प्रत्येक गुण अवगुण को सहज में ही प्राप्त कर लेता है। क्योंकि "आत्मा वै जायते पुत्र" इस श्रुति के अनुसार पिता की आत्मा का पुत्र रूप में परिणत होना एक स्वाभाविक बात है। फिर सर्व-प्रिय तथा सर्व-गुण-सम्पन्न गुरु तेगबहादुर जी के पुत्र का प्रत्येक बात में अनुपम तथा अद्वितीय होना एक प्रकृति-सिद्ध बात थी। गुरु तेग-बहादुर जी कुछ वर्ष तो पटना रहे परन्तु फिर वह पंजाब में चले आये। गुरु गोविन्दसिंह के बाल्य-काल के पाँच वर्ष पटना में ही बीते। बाद में गुरु तेगबहादुर जी ने इन्हें होशियारपुर जिले के अन्तर्गत आनन्दपुर में बुला लिया था। यह स्थान गुरु जी ने बिलासपुर कहलूर के राजा से पाँच सौ रुपये में मोल लिया था। इसका पहला नाम माखोवाल था। सात वर्ष की आयु में पिता ने गोविन्दसिंह को भाई साहबचन्द्र खत्री के पास गुरुमुखी पढ़ने के लिए भेज दिया। इनकी प्रतिभा बड़ी तीव्र थी इसलिये ये पढ़ने में बड़े ही योग्य निकले। गुरु ग्रन्थ साहब तथा अन्य सिक्ख संप्रदाय के धार्मिक ग्रन्थ इन्होंने थोड़े ही काल में पढ़ लिए। फिर आपको फारसी पढ़ाने के लिये काज़ी पीरमुहम्मद जी नियत किया गया। फारसी में भी इनकी

बुद्धि अच्छी चली और थोड़े ही समय में बड़े योग्य हो गये। इनकी बुद्धि की विलक्षणता और स्मरणशक्ति को देखकर शिक्षक लोग बड़े चकित रहते थे। हिन्दी संस्कृत की शिक्षा भी इस बुद्धिमान् बालक को एक अनुभवी योग्य पण्डित द्वारा दिलाई गई। इस प्रकार सभी भाषाओं का ज्ञान इस होनहार बालक को किशोरावस्था में ही हो गया। जब कुछ दिनों बाद हिन्दी संस्कृत में भी ये पारंगत हो गये तो इन्हें सैनिक-शिक्षा देने के लिए एक प्रसिद्ध राजपूत वीर रख दिया गया था। सैनिक बनाना इनके लिए प्राकृतिक गुण था। थोड़े ही समय में ये इस विद्या में भी इतने निपुण हो गये कि बड़े २ योद्धा तथा सेनापति भी इनके रण-चातुर्य को देखकर दाँतों तले अँगुली दबा लेते थे। जब इनकी अवस्था नौ साल की थी तो उन्हीं दिनों लाहौर की संगत के साथ एक हरियश नामक खत्री गुरु तेग़बहादुर के दर्शन करने आया था। उसने गुरु साहब से प्रार्थना की कि मैं आपके-पुत्र गुरु गोविन्दसिंह के साथ अपनी पुत्री का विवाह करना चाहता हूं। गुरु जी ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और गुरु गोविन्दसिंह का शुभ विवाह १५ ज्येष्ठ संवत् १७३१ विक्रमी को बड़ी धूम धाम से हो गया। इन्हीं दिनों बादशाह औरंगज़ेब अपने पिता को क़ैद कर और सगे भाइयों की जीवन-लीला समाप्त कर मुग़ल बादशाही का उत्तराधिकारी बना था। उसने हिन्दू धर्म के विरुद्ध खुल्लम-खुल्ला प्रचार करना आरम्भ कर दिया। विशेषतः-काश्मीर में तो उसने तलवार के ज़ोर से गाँवों के गाँव मुसलमान बना डाले। इस घोर अत्याचार से पीड़ित हो एक दिन काश्मीर के कुछ ब्राह्मणों ने गुरु तेग़बहादुर के निकट आकर प्रार्थना की कि मुसलमान हमें बहुत दुःख देते हैं। हमारी बहू-बेटियों की मान-

मर्यादा मिट्टी में मिल गई है, कृपा करके हमारी रक्षा कीजिए। काश्मीरी पंडितों की बात सुनकर गुरु जी विचार-सागर में गोते खाने लगे, किन्तु उन्होंने कुछ देर सोच कर कहा—जब तक कोई पुण्यात्मा अपना सीस नहीं देगा, मुसलमानों के अत्याचार बन्द नहीं हो सकते। उस समय बालक गोविन्दसिंह जो उनके निकट खड़े थे वे झट से बोले कि इस युग में आप से बढ़ कर कौन पुण्यात्मा है। आप ही इनकी रक्षा कीजिए। तब गुरु तेगबहादुर पुत्र के मोह से मोहित होकर कहने लगे—बेटा, तुम अभी बच्चे हो, मेरे बाद तुम्हारा पालन-पोषण कौन करेगा। इस पर वह वीर बालक झट कविता के रूप में उत्तर देने लगा—

"जब हुते उदर माँहि मात के करे रखवारी जौन।
अब तो नौ साल के क्यों न सहाई होय॥"

बालक की इस निर्भीक वाणी को सुनकर गुरु जी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने शरणार्थी ब्राह्मणों से कहा कि तुम औरङ्गजेब से कहला भेजो कि यदि गुरु तेगबहादुर इस्लाम धर्म की दीक्षा ले लें तो हम भी इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लेंगे। गुरु जी की आज्ञानुसार बड़े २ हिन्दुओं ने एक पत्र औरङ्गजेब को भेज दिया। पत्र पढ़ कर बादशाह बड़ा प्रसन्न हुआ और कहने लगा—एक व्यक्ति के इस्लाम स्वीकार कर लेने पर यदि सारे ही हिन्दु मुसलमान बन जावें तो इससे बढ़ कर इस्लाम धर्म की सेवा और क्या हो सकती है।

फलतः औरङ्गजेब ने गुरु तेगबहादुर को बुला भेजा। गुरु जी ने समझा कि अब बलिदान का समय आन पहुँचा है, इसलिए पाँच सिक्खों को साथ लेकर गुरु जी दिल्ली पहुँच गये। औरङ्गजेब ने

उनको मुसलमान होने को कहा। गुरु जी को प्रत्येक रीति से प्रसन्न करने की बादशाह ने बड़ी कोशिश की जिससे कि ये मुसलमान बन जाँय। पर जब वे किसी प्रकार भी न माने तब उसने पहिले उनके साथियों को बुरी तरह से मरवा डाला। अब गुरु जी की बारी आई। बादशाह ने ढिंढोरा पिटवा दिया कि सब लोग चाँदनी चौक में इकट्ठे हो जाँय। औरङ्गज़ेब बन्दी के वेश में गुरु जी को लेकर वहाँ पहुँचा और आम जनता के सामने उनका सिर धड़ से अलग कर दिया। यद्यपि उपस्थित जनता में मुसलमान अधिक थे, किन्तु दर्शकों में जो हिन्दु थे वे इस प्रकार निरपराध महात्मा का वध देखकर रो पड़े। उस समय आकाश में घोर गर्जना हुई और बड़ी ज़ोर से आँधी चलने लगी। सारी दिल्ली में अन्धकार छा गया। भङ्गी जाति के भाई जीवन ने किसी तरह गुरु जी का सिर उठा लिया और आनन्दपुर में लाकर गुरु गोविन्दसिंह को दे दिया। जहाँ पर गुरु जी का सिर काटा गया था वहाँ पर उनकी पुण्य स्मृति में एक बड़ा सुन्दर गुरुद्वारा बना हुआ है जिसका नाम सीसगञ्ज है। पिता के आत्मबलिदान के उपरान्त गुरुगोविन्दसिंह जी गुरु-गद्दी पर बैठे।

इनकी मुसलमानों से अब कट्टर शत्रुता होगई। कोई भी अकेले कार्य नहीं कर सकता, इसलिए गुरुगोविन्दसिंह ने सिक्खों को एकत्र करना आरम्भ किया। औरङ्गज़ेबी अत्याचारों से तंग हुए हिन्दु सिक्ख अनायास इनके शिष्य बनने लगे। अन्य गुरुओं की अपेक्षा गुरुगोविन्दसिंह जी की शिष्य-मण्डली बहुत अधिक विस्तृत हो गई। अपने पूर्वजों की भाँति इनका कार्य केवल उपदेश देना ही नहीं रहा अपितु एक ओर सिक्ख-धर्म का उपदेश करते तो दूसरी

और साथ-साथ सैनिक शिक्षा भी देते। दूरदर्शी गुरु गोविन्दसिंह जी इस बात को खूब समझते थे कि औरंगज़ेब जैसे मुगल सम्राट् से बदला लेना कोई आसान काम नहीं। इसलिए उन्होंने अपने शिष्यों को तलवार, बन्दूक, घुड़सवारी, आदि सारी युद्ध-विद्याएँ सिखा दीं। शिष्यों को एकत्र करके आज्ञा देते कि जो युद्ध-सम्बन्धी कोई सेवा करेगा मैं उससे सदैव प्रसन्न रहूंगा। गुरु जी हिन्दु-जाति की दुर्बलता और विनाश के मूल कारण को अच्छी तरह जानते थे। हिन्दु-समाज ऊँच-नीच जाति के भेद-भाव के कारण परस्पर विरोध करता हुआ अधःपतन की ओर जा रहा है। संगठन की अपेक्षा वैमनस्य की मात्रा बढ़ती जा रही है। इसलिए उन्होंने प्रधान रूप से जाति के भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न किया। एक दिन उन्होंने आनन्दपुर में एक बड़े सहभोज का आयोजन किया। चारों वर्णों के लोगों को निमन्त्रण दिया। इस समय कुछ ब्राह्मणों ने आक्षेप किया परन्तु गुरु गोविन्दसिंह ने उन सब का निराकरण कर स्पष्ट कर दिया कि मुझ को तो अछूत प्राणों से प्यारे हैं।

गुरु गोविन्दसिंहजी में यह भी एक विशेषता थी कि वीर, सैनिक, गुरु आदि असाधारण गुणों के साथ २ वे एक उत्तम कोटि के कवि भी थे। अछूतों को उन्होंने किस तरह ऊंचा उठाया यह उनकी नीचे लिखी कविता से स्पष्ट हो जायगा।

युद्ध जिते इनही के प्रसाद, इनही के प्रसाद सुदान करे।
अघ ओघ टरै इनहीं के प्रसाद, इनही कृपा फुनि धाम भरे॥
इनही के प्रसाद सुविद्या लई, इनही की कृपा सब शत्रु मरे।
इनही कि कृपा से सजे हम हैं, नहीं मोसे गरीब करोर परे।

जिन अछूतों को वे इतना ऊपर उठाने का प्रयत्न करते थे जिन

उनका साथ क्यों नहीं देते। सब को एक दृष्टि से देखना और धर्म-उपदेश के साथ साथ स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाना इस अनोखे व्यवहार से गुरु जी के सैंकड़ों ही सैनिक शिष्य बन गये। ऊँच जाति की अपेक्षा पद-दलित शूद्र हिन्दु-जाति की रक्षा करने में अधिक सहायक सिद्ध हुए। गुरु जी अपने सैनिकों के सामने भीम, अर्जुन, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि की कथाएँ सुनाकर ओजस्वनी वक्तृता में उपदेश दे ।। दधीचि, शिवि, हरिश्चन्द्र और भीष्मपितामह आदि के दृष्टान्त देकर उनके मन को ऐसे मोह लेते थे कि वे गुरुजी पर तन, मन, धन तथा सर्वस्व न्योछावर करने को हर समय तय्यार रहते। मानव की प्रकृति कुछ ऐसी है कि वह दूसरे के उत्कर्ष को देखकर स्वभावत: जलने लगता है। हिन्दु-समाज में तो यह बात अधिकतर पाई जाती है। गुरु गोविन्दसिंह अपने ऐश आराम के लिए समाज का संगठन नहीं कर रहे थे बल्कि उनका असली उद्देश्य था कि हिंदु-सिक्खों को सरदार बना कर विरोधियों से संघर्ष करूँ इसीलिए वे अब बादशाही ठाट-बाट से रहने लगे। गुरु जी की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर आनन्दपुर के पड़ोसी पहाड़ी राजाओं में द्वेष की अग्नि भड़क उठी। वे लोग चाहते थे कि कोई बहाना मिले जिससे गुरु जी से छेड़-छाड़ की जाय। एक दिन बिलासपुर कहलूर के राजा ने गुरु गोविन्दसिंह से कहला भेजा कि आप के पास जो आसाम का हाथी है वह हमें दे दो। उत्तर में गुरु जी ने उसे देने से इन्कार कर दिया। अभिमानी राजा ने दस हज़ार सेना सहित गुरु जी पर आक्रमण कर दिया। गुरु जी की सेना इतनी अधिक तो न थी वे केवल दो हज़ार सैनिकों को साथ ले भंगानी नामक स्थान पर संग्राम करने के लिये चल दिये। यह प्रथम युद्ध था, इसलिए बड़ी घमासान लड़ाई हुई। गुरु जी ने

अपनी ओजस्विनी वाणी द्वारा सिक्खों में ऐसी वीरता भर दी थी कि जिन लोगों ने कभी तलवार और बन्दूक तक न उठाई थी वे भी ऐसी वीरता से लड़े कि दुश्मनों को रणक्षेत्र छोड़ कर भगना पड़ा। इस लड़ाई में सिक्खों के हाथ बहुत सी युद्ध-सामग्री आई। शत्रु को बड़ी वीरता से हरा करके वे सब पाण्डवों के किले में चले गये।

गुरु गोविन्दसिंह की प्रथम लड़ाई में प्रथम विजय हुई। इस विजय से गुरु जी की धाक जम गई। जो हिन्दु-जाति बहुत देर से दबी बैठी थी उसने अब गुरु जी के नेतृत्व में अपना सिर उठाया। बहुत देर से सोये हुए लोगों की नींद टूटी और वे अपने अधिकार की प्राप्ति के लिए उतावले हो उठे। सारे भारतवर्ष में एक नई जागृति उत्पन्न हो गई। बच्चा-बच्चा अपनी खोई हुई स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हो गया। गुरु जी के प्रताप के सामने बादशाही शक्ति फीकी पड़ने लगी। वैशाखी के उत्सव पर कन्धार तथा बलख बलखारा के शिष्यों ने दुनीचन्द के हाथ एक ऊनी शामियाना भेजा जिसकी समता शाही दरबार में कोई भी नहीं कर सकता था। सम्वत् १७३३ विक्रमी को रत्नराय 'जो गुरु तेगबहादुर जी के शिष्य का पुत्र था' दिवाली के दिन गुरु जी के दर्शनों के लिए आनन्दपुर आया। उसने बहुमूल्य कई प्रकार के उपहारों के अतिरिक्त एक पञ्चकला 'जिसमें बरछी, बन्दूक, गुरज, खोंखरी और कुलहाड़ा था' एक सन्दल की चौकी, पाँच बहुमूल्य घोड़े और एक बहुत ही सुन्दर हाथी जिसके मस्तक पर सफेद फूल का चिह्न तथा मस्तक से लेकर पूँछ तक एक सफेद लकीर थी, गुरु जी की भेंट किया। गुरु जी इन उपहारों को लेकर बहुत ही प्रसन्न हुए।

अब गुरु गोबिन्दसिंह जी की इच्छा हुई कि हिन्दुओं को संगठित किया जाय और एक स्वतन्त्र राष्ट्र का निर्माण किया जाय। उन्होंने पर्वतीय-राजाओं को निमन्त्रण देकर बुलाया और कहला भेजा कि आओ हम सब हिन्दु एक होकर विरोधी का सामना करें। आपसी भेद-भाव, तथा ऊँच-नीच भाव को त्याग कर एक सूत्र में बन्ध जाने से ही हम सब का कल्याण है। गुरु गोविन्द-सिंह के सिक्ख दल में सभी जाति के लोग थे। इसलिए उच्च-वंशीय राजाओं ने सिक्खों के साथ मिल जाना अपना अपमान समझा। प्रत्युत्तर में उन्होंने यों कहा कि हम उच्च वर्ण के राजपूत आपके सम्प्रदाय के नीच सिक्खों के साथ कैसे खान-पान कर सकते हैं। दूसरी बात यह कि आपके इने-गिने सिक्ख अतुल शक्ति मुग़ल सम्राट् का क्या बिगाड़ सकते हैं।

गुरु जी ने जब उनकी यह बात सुनी तो वे उनकी मूर्खता और अदूरदर्शिता पर बहुत ही दुखी हुए। और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि—

राजन के संग मैं रंक लड़ाऊँ, चिड़ियों से मैं बाज़ तुड़ाऊँ।
सवा लाख संग एक लड़ाऊँ, तभी तो गोविन्द नाम कहाऊँ।

इस प्रतिज्ञा के उपरान्त उन्होंने भेड़ों को शेर, कायरों को बलवान, सोते हुओं का जागृत कर दिया। इन्हीं दिनों में वैशाखी का पर्व आया। भारत भर में यह पवित्र त्योहार मनाया जाता है। इस दिन भारत के कई प्रान्तों में मेला लगता है। इसलिए गुरुजी ने अपने सिक्खों के नाम आदेश भेजा कि वैशाखी के पर्व पर सभी लोग आनन्दपुर में एकत्र हों। आज्ञा की देर थी हज़ारों सिक्ख सेवा में उपस्थित हो गये। एक विराट् सभा की गई। हज़ारों नर नारियों के सम्मुख गुरुजी ने ओजस्वी भाषण दिया।

भाषण देते समय गुरुजी का चेहरा सूर्य की भाँति चमक रहा था। वे अपने शिष्यों की परीक्षा लेना चाहते थे । उन्होंने कहा वीरो ! आज शक्ति देवी, असि चण्डी बलिदान चाहती है, रक्त पीना चाहती है। आप सब में से कोई ऐसे पांच वीर हैं जो अपने सीसों को सहर्ष असि चण्डी के चरण कमलों में भेंट कर सकें। गुरुजी के इस कथन से शिष्य-मंडली में अत्यन्त सन्नाटा छा गया। जीवन का प्रश्न इस संसार में बड़े महत्व रखता है। कीड़ी से लेकर कुञ्जर तक बालक से लेकर बूढ़े तक सभी प्राणी जीना ही चाहते हैं मरना कोई नहीं। किसी को आशा नहीं थी कि गुरुजी इस प्रकार की मांग करेंगे। पहिली मांग में ही चारों ओर सन्नाटा छा गया था। गुरुजी ने दुबारा गर्ज कर कहा—"क्या कोई ऐसा वीर सिक्ख नहीं जो अपना मस्तक भेंट कर सके।"

इस बार एक दयाराम नामक खत्री हाथ जोड़ कर सामने आया और बोला—"पूज्य गुरुदेव मेरा सीस आपके चरणों में सहर्ष उपस्थित है" आपकी जैसी इच्छा हो उसका उपयोग करें। सभा-मण्डप के पास ही एक खेमा लगा हुआ था गुरुजी दयाराम का हाथ पकड़ कर झट उसे खेमे के भीतर ले गये। थोड़ी देर में खेमे के भीतर से खून की धारा बह निकली। दर्शकों के हृदय काँप उठे । इतने में गुरुजी रक्त रञ्जित कृपाण को हाथ में ले कर सभा-मंडप में आये और बोले—मुझे एक ऐसे वीर की आवश्कता है जो दयाराम की भाँति अपना सीस अर्पण कर सके। इस बार दिल्ली निवासी धर्मदास नामक एक जाट उठ खड़ा हुआ। उसको भी गुरुजी खेमे के भीतर ले गये और उसी भांति खून की धारा बहाने के पश्चात् रुधिर से रंगी हुई तलवार सहित बाहिर आये।

तीसरी वार मुहकमचन्द चौथी वार साहिबराम और पाँचवीं वार हिम्मत कहार बलिदान होने को उठे। गुरुजी ने यह एक परीक्षा ली थी, वास्तव में उनका वध नहीं किया। थोड़ी देर वाद गुरु गोविन्दसिंह उन पाँचों के साथ बाहर आये और सबको सम्बोधन कर बोले मेरे लिये ये पाँचों सिक्ख प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं। इसके वाद उन्होंने एक पात्र में उन पाँचों को अमृत छकाया और स्वयं भी छका। इस अनोखे उपाय से उन्होंने ऊँच नीच जाति का भेद-भाव भुलाकर सबको एकता का पाठ पढ़ाया।

गुरुजी के इस चरित्र को देख कर उपस्थित नर-नारी हर्ष से गद-गद हो उठे। जयकारों की गूँज से सारा आनन्दपुर मुखरित हो उठा। तभीसे सिक्खोंमें यह प्रथा चली आई है कि जब तक कोई व्यक्ति 'अमृत छकने' का संस्कार न कराये पक्का सिक्ख नहीं बन सकता। उसी दिन से गुरु जी ने अपने शिष्यों को आज्ञा दे दी कि वे अपने नाम के अन्त में "सिंह" लगाया करें, और केश, कंघी, कड़ा, कच्छा, तथा कृपाण ये पाँच कक्के हमेशा अपने पास रखो। सिक्ख जाति आज भी उसी नियम का पालन करती चली आ रही है।

नौ गुरुओं तक प्रत्येक व्यक्ति केवल गुरु का चरण धोकर पी लेने से सिक्ख बनजाता था। परन्तु गुरुगोविन्दसिंह जी की यह इच्छा थी कि प्रत्येक सिक्ख सच्चा क्षत्री हो। इसलिए उन्होंने एक नई रीति निकाली। वे चीनी का शर्वत बनवा कर उसमें अपनी तलवार डुबो कर यही शिक्षा देते कि प्रत्येक सिक्ख तलवार से शत्रुओं का वध करे। बस इस नियम से वीर सिक्खों की जत्था-बन्दी दिन प्रतिदिन बढ़ती गई और इस जत्थेबन्दी के साथ गुरुजी आनन्दपुर में सुख से रहने लगे।

गुरुजी की इस उन्नति को देखकर औरंगज़ेब के हृदय में ईर्षा के सांप लोटने लगे। उसने कई बार गुरु के जत्थों को नाश करने के लिए अपनी चतुरंगिणी सेना भेजी। परन्तु सिक्खों की सेना ने हर बार उसके दाँत बुरी तरह खट्टे किये। एक दिन औरंगज़ेब ने एक बड़ी भारी सेना भेज कर आनन्दपुर के चारों ओर घेरा डाल दिया। सिक्खों ने कई महीनों तक उसका सामना किया परन्तु खाद्य-सामग्री समाप्त हो जाने से कई सिक्ख गुरुजी को छोड़ कर भाग गये। तब गुरुजी ने अपनी माता के साथ अपने दो छोटे २ बच्चों को बाहर भेज दिया और आप मुग़ल-सेना के साथ लड़ते बहुत दूर चमकौर जा निकले। इस समय गुरुजी ने अपने बड़े लड़के अजीतसिंह को लड़ाई में भेजा। वीर बालक ने अपूर्व रण-कौशल दिखलाया। अन्त में सैंकड़ों वीरों को मार कर स्वयं भी उसने वीर-गति प्राप्त की। अब उससे छोटे भाई जुझारसिंह की बारी आई। इस रण-बांकुरे को शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित किया गया। ऐसी किंवदन्ती है कि बालक जुझारसिंह ने रण में जाने से पहिले पीने के लिये पानी मांगा, किन्तु गुरुजी ने कहा—बेटा! अब रणक्षेत्र में जाकर ही—शत्रु के ताज़े खून से अपनी प्यास बुझाओ। वीर बालक पिता की आज्ञा पाकर प्यासा ही—रण में लड़ने चला गया और अपनी तलवार से शत्रु के सहस्रों वीरों का सर्वनाश करता हुआ अन्त में स्वयं भी अमर गति को प्राप्त हुआ।

प्रतापी एवं धीर-वीर गुरु गोबिन्दसिंह जी अपने नौनिहाल पुत्रों की मृत्यु सुनकर तनिक भी विचलित न हुए। दुश्मनों का जमघट चारों ओर से उनके पीछे पड़ा हुआ था, इसलिए गुरुजी ने

सोचा कि अब चमकौर ठहरना सर्वथा हानिकर है। अतः वे अपने थोड़े से साथियों सहित किसी तरह से निकल कर बहलोलपुर में एक मुसलमान रायकला के पास चले गये। गुरुजी का मुसलमानों के साथ कोई जातीय वैर नहीं था। वे तो उन लोगों से घृणा करते थे जो मुगल-शासक हिन्दू प्रजा को बुरी तरह सताया करते तथा उन्हें सैंकड़ों यातनायें दिया करते थे। उनका एकमात्र ध्येय यही था कि हिन्दु जाति के स्वत्वों की रक्षा हो। नहीं तो इन पर हिन्दु जाति की इतनी श्रद्धा क्योंकर होती। दो पुत्रों की मृत्यु हो जाने पर भी गुरुजी को इतना संतोष था कि दो छोटे पुत्र तो किसी तरह सुरक्षित होंगे। गंगू रसोइया इनके साथ था; किन्तु कौन जानता है कि मानव का मन कब बदल जाय। गंगू के मन में पाप ने प्रवेश किया, क्योंकि छोटे बच्चों के साथ जो बूढ़ी दादी थी उसके पास बहुत सारा धन था अतः उसने धनको अपने आप छीनकर उन सब को मोरण्डा के शासक जानीखाँ के हाथ पकड़ा दिया। परन्तु जानीखाँ ने गंगू से वह धन छीन लिया और उसको विश्वासघात के फल-स्वरूप मृत्यु दण्ड दिया। जानीखाँ ने उन तीनों बन्दियों को सरहिन्द के नवाब के सुपुर्द कर दिया। नवाब ने उनको इस्लाम धर्म ग्रहण करने को कहा। पर जब वे न मानें तो उस दुष्ट ने जीते जी इन दोनों बालकों को दीवार में चुनवा दिया। बूढ़ी दादी इस दारुण दुःख को देखकर मूर्च्छित हो गई और इसी शोक से उसके प्राण-पंखेरू भी उड़ गये। मालेरकोटला निवासी शेरमुहम्मद खाँ ने सरहिन्द के नवाब को बहुत समझाया कि हमारा विरोध गुरु गोविन्दसिंह से है न कि इन बच्चों से। इस लिए इनके प्राण न लीजिए किन्तु नवाब ने एक न मानी।

गुरु गोविन्दसिंह ने जब अपने दोनों बच्चों का आत्म बलिदान सुना तो उन्होंने अपने आपको बड़ा धन्य माना। उस समय की गुरुजी की वाणी कितनी आदर्शमयी है—

धर्म हेत सुत जिनके लागे, मातु पिता जानो बड़ भागे।

गुरुजी कुछ दिन तक रायकल्ला के यहां रह कर फिर दीना गांव में जा पहुँचे। वहां उन्होंने एक बड़ा भारी सम्मेलन बुलाया, इनकी दोनों धर्म-पत्नियां भी आईं। इन वीर माताओं को अभी तक यह मालूम न था कि हमारी सन्तान अपना उज्ज्वल नाम संसार में सदा के लिए अमर कर गई है। सती सुन्दरी ने पूछा कि—प्राणनाथ! मेरे चारों लाल कहाँ चले गये। माता के करुणा-जनक रुदन से सारी मण्डली में सन्नाटा छा गया। गुरुजी उसे धीरज बन्धाते हुए कहने लगे—सिक्ख जाति की रक्षा के लिये मैंने चारों पुत्रों को न्योछवार कर दिया। महाराणा प्रताप ने वर्षों तक जंगलों की खाक छानी वे कभी अधीर न हुए पर जिस दिन उनके बच्चे भूख से तड़प रहे थे और दुर्दैव ने कन्या के हाथ से घास की रोटी भी बिलाव से छिनवा दी तो कुटुम्ब के इन छोटे बच्चों की, ममता के वशीभूत हो कर उन्होंने अकबर को सन्धिपत्र लिख भेजा था। यही दशा आज गुरुजी की थी। उन्होंने भी एक सन्धि पत्र औरंगज़ेब के नाम पर "ज़फर नामा" के नाम से भेजा। सम्राट पर इस पत्र का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। आनन्दपुर की लड़ाई में जो सिक्ख गुरुजी का साथ छोड़ भाग आये थे वे अब फिर गुरुजी के साथ आने को तय्यार हुए। अस्तु गुरुजी ने फ़िर सिक्खों को एकत्र कर यूंही मुग़लों पर चढ़ाई करने की इच्छा ही की परन्तु इतने में सरहिन्द के नवाब की सेना पहले ही आक्रमण

के लिए वहाँ आ पहुँची। आनन्दपुर से भागे हुए सिक्खों ने यहां पर बड़ी वीरता दिखाई और मुग़ल सेना के साथ लड़ते २ उन्होंने अपने प्राण दे दिये। सिक्खों का जब तक एक भी बच्चा शेष रहा तब तक वे जी जान से लड़ते रहे। औरंगज़ेब सिक्खों को चिड़िया और मुसलमानों को बाज़ कहा करता था। इस पर गुरु जी ने वह प्रण किया था। कि—

जब चिड़ियों से बाज़ चुनाऊँ।
तब गुरु गोविन्दसिंह कहाऊँ॥

अपने प्रण के अनुसार गुरु गोविन्दसिंह का मुग़लों से निरन्तर संघर्ष रहा किन्तु उनको कोई आशातीत सफलता न मिली। हाँ सिक्ख जाति में वे वीरता का जीवन-संचार अवश्य कर गये। सैकड़ों वर्षों से मुग़लों के अत्याचार सहते-सहते हिन्दु जाति हतोत्साह हो चुकी थी। गुरु जी ने उनको नवीन जीवनदान देकर अपना नाम अमर कर लिया। कुछ दिनों बाद अत्याचारी औरंगज़ेब की मृत्यु हो गई और उसका उत्तराधिकारी बहादुर-शाह बना। इतिहासकारों का कथन है कि बहादुरशाह को राजसिंहासन देने का श्रेय भी गुरु जी को ही हैं, क्योंकि औरंगज़ेब के आज़मशाह, कामबख़्श और बहादुरशाह तीन बेटे थे। आज़मशाह ने कामबख़्श को मार कर स्वयं राजमुकुट पहन लिया था। बहादुरशाह ने गुरु गोविन्दसिंह की सहायता से आज़मशाह को मार डाला। अब एक मात्र मुग़ल सम्राट् बहादुरशाह ने शासन की बागडोर संभाली। गुरु जी ने देखा कि पञ्जाब की सिक्ख जाति उनके कहने पर उतना नहीं चल रही जितनी कि उनकी इच्छा है। इसलिए वे देश-भ्रमण के बहाने

दक्षिण की ओर चल दिये। वहां उनकी वैरागी माधोदास से भेंट हुई। इस प्रान्त में वैरागी माधोदास बड़ी ख्याति प्राप्त कर चुका था। वास्तव में यह वैरागी पहिले पञ्जाब प्रान्त का लक्ष्मण-देव नाम का वड़ा वीर क्षत्री था। एक दिन शिकार खेलते खेलते इसने गर्भवती हरिणी को मार डाला था और उसी दारुण दृश्य से इसकी भावना वैराग्य की ओर बदल गई थी। जैसे ये सच्चे राजपूत थे वैसे ही—सच्चे वैरागी भी। इनको अष्टसिद्धि प्राप्त हो चुकी थीं। गुरु जी ने वैरागी से पञ्जाव की दुर्दशा का वर्णन किया, साथ ही अपने पुत्रों के वलिदान का भी। वैरागी के हृदय में मातृ-भूमि का प्रेम उमड़ आया। उसने गुरु जी की आज्ञा पाकर पञ्जाव की ओर प्रस्थान किया और यहाँ आकर मुसल-मानों से उनके अत्याचारों का अच्छी तरह बदला लिया। गुरु जी के बच्चों को जिन्होंने दिवार में चुनवा कर मरवाया था उन सब को एक २ करके वीर वैरागी ने मार डाला। सिक्खों का राज्य स्थापित किया। किन्तु अदूरदर्शी सिक्खों की मूर्खता से वीर वैरागी मुग़ल सम्राट् फर्रुखसीयर द्वारा बहुत बुरी तरह से मरवा डाला गया।

उधर वैरागी को पञ्जाव का उद्धार करने के लिए भेज कर गुरु गोविन्दसिंह जी गोदावरी के किनारे रहने लगे। बहादुर-शाह ने एक पठान को सिखाकर भेजा था कि अवसर मिलने पर गुरु गोविन्दसिंह की हत्या कर डाले। एक दिन गुरु जी रात को निश्चिन्त सोये हुए थे कि उस दुष्ट पठान ने उनके पेट में छुरा घोंप दिया। गुरु जी ने भी उठ कर तलवार से ऐसा प्रहार किया कि वह वहीं पर धराशायी हो गया। घाव गहरा हो गया था किन्तु

ईश्वर की कृपा से प्राण नहीं निकले। कुछ समय बाद घाव भर गया। परन्तु एक दिन धनुष पर चिल्ला चढ़ाते हुए घाव के बंध फिर से खुल पड़े और उन्हें मूर्छा आ गई। होश आने पर उन्होंने अपने प्रिय शिष्यों को बुला उन्हें देश, जाति तथा धर्म की रक्षा का उपाय बताकर कार्तिक शुदी पंचमी संवत् १७६५ में इस असार संसार से नश्वर शरीर को त्याग दिया।

यद्यपि गुरु जी का शरीर इस संजार में इस समय विद्यमान नहीं है फिर भी सदियों तक उनकी अमर कीर्ति हिन्दु एवं सिक्ख जाति का गौरव बढ़ाती रहेगी। वे केवल योद्धा, धर्म-प्रवर्तक तथा समाज-सुधारक ही नहीं थे वरन् अच्छे कवि साहित्यिक और व्याख्याता भी थे। हिन्दी-साहित्य के कवियों में आपकी रचना चण्डी चरित्र, अकाल स्तुति, विचित्र नाटक आदि पुस्तकें बड़ी उत्कृष्ट कोटि की मानी जाती हैं।

सिक्ख जाति इनको अपनाअन्तिम गुरु मानती है क्योंकि इन्हों ने अन्तिम समय यह बात स्पष्ट कर दी थी कि अब से अपना गुरु ग्रन्थ साहब को ही मानें। किसी को गुरु मानने की आवश्यकता नहीं। भक्ति भावना में पगी सिक्ख जाति अब गुरु ग्रन्थसाहब को ही सर्वोत्कृष्ट अपना धर्म ग्रन्थ मानती हैं।

धन्य हैं गुरु गोविन्दसिंह जिन्होंने अपनी जाति के लिए अपना सारा जीवन, तन, मन, धन सारा परिवार तथा अपने नौनिहाल बालकों को भी धर्म की वेदी पर बलिदान कर दिया। बड़े दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दु जाति की रक्षा के लिये बनी हुई सिक्ख जाति आज हिन्दुओं से अपने आपको पृथक् मान रही है।

गुरु गोविन्दसिंह का सच्चा आदर्श अब उन्होंने भुला दिया है। कुछ भी हो सिक्ख या हिन्दु सभी गुरु जी के तेजोबल पराक्रम के आगे श्रद्धा से मस्तक झुका लेते हैं।

हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि गुरु तेगबहादुर के बलिदान का ही यह फल है कि उनके उपरान्त उनके सुपुत्र गुरु गोविन्दसिंह ने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि अपने पिता का बदला चुकाने के लिये, मुग़ल बादशाही से टक्कर लेने के लिये अपने अनुयायियों को सदा प्रोत्साहित करता रहूंगा और अपनी जाति में से ऊँच नीच भाव दूर कर सबको समभाव से उन्नत होने का मौका दूंगा। ताकि मुग़लों द्वारा पद दलित हिन्दू जाति का पुनरुत्थान हो। इन उच्च विचारों के कारण वैशाखी के उत्सव पर उन्होंने अपने भक्तों से इस बात की मांग की, कि मुझे जाति के उत्थान के लिये ५ मनुष्यों के मस्तकों की आवश्यकता है। और इसके बाद जो कुछ हुआ उसका वर्णन हम पहिले कर आये हैं। यद्यपि गुरु जी के कहने पर बाद में सैकड़ों सिक्ख बलिदान होने के लिये तय्यार हो गये पर इनमें से जिन पांच वीरों ने सबसे पहिले अपने आप को समर्पित किया था वे शूद्र जाति के थे। उनका विशेष उत्साह देख कर गुरु ने अपने हाथों से उन्हें प्रसाद खिलाया और स्वयं भी उन पाँचों के हाथों से भोजन किया। उस दिन से सिक्ख जाति की नींव एक नवीन ढंग पर रखी गई। उस समय गुरु गोविन्दसिंह ने उपस्थित मण्डली से कहा कि—ऐ मेरे प्यारे सेवकों ? जाति पाँति के भेद-भाव को छोड़ कर धर्म की रक्षा के लिए मेरे साथ मिल कर आततायी मुसलमानों का मुकाबिला करो मैं गोहत्या करने वाले मुसल-

मानों से लड़कर मुस्लिम साम्राज्य को धूल में मिलाना चाहता हूँ। अरब और ईरान से आये हुए, धर्म-नाशक विदेशी राक्षसों को भगाकर इस पवित्र भूमि भारतवर्ष को प्राचीन रूप में देखना चाहता हूँ। गुरु गोविन्द ने सिक्खों में आमूलतः परिवर्तन कर दिया, जहाँ उनको पाँच ककार (केश, कन्धा, कच्छ, कृपाण और कड़ा धारण करने को कहा वहाँ सब सिक्खों के नामों के अन्त में 'सिंह' शब्द जोड़ कर उनको सच्चा शेर बना दिया। इन्हीं सिक्ख वीरों को प्रोत्साहित करते हुए गुरु जी ने कहा था। कि—

अगम शूर वीरा उठहिं सिंह योधा,
पकड़ तुरकगन कै करैं वै निरोधा।
अखिल हिन्द खालसा पंथ गाजै,
जगे धर्म हिन्दू सकल भंड भाजै॥
न छाड़हुँ कहूँ दुष्ट असुरन निशानी,
चलै सब जगत में धर्म की निशानी॥

इन शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुरु गोविन्दसिंह को हिन्दुत्व से कितनी ममता थी। आज दुर्भाग्य से सिक्ख लोग अपने आपको हिन्दू कहने में शर्माते हैं। सिक्ख जाति हिन्दु जाति से भिन्न नहीं है। फिर भी जो भेद-भाव मानते हैं इसमें हम उनकी अदूरदर्शिता ही कहेंगे।

मुस्लिम सत्ता का अन्त करना कोई साधारण कार्य न था, उसके लिए वीर-बाँकुरों के अतिरिक्त धन की अधिक आवश्यकता थी। गुरु गोविन्दसिंह ने पञ्जाब प्रान्त के पहाड़ी राजाओं से धन की सहायता माँगी, साथ ही उन सब को एक सूत्र में संगठित होने का भी उपदेश दिया। धन की सहायता देना तो

दूर रहा उन राजाओं ने मुस्लिम सत्ता के कर्णधारों से और भी अधिक गठजोड़ कर लिया और गुरु गोविन्द से लड़ने को तैयार हो गये। उन्होंने गुरु जी का पवित्र उद्देश्य नहीं समझा, बल्कि उन्होंने यह सोचा कि गुरु भी राजा बनना चाहता है। यदि वह राजा बन गया तो हमारा राज्य छीन लेगा।

इस तरह के संकुचित विचार रखने वाले राजाओं ने औरंगज़ेब से मिलकर हिन्दू जाति का ही नाश किया तथा हिन्दू धर्म के रक्षक गुरु गोविन्द के प्रयत्नों को निष्फल बनाने में कोई कसर उठा न रखी। यदि उस समय वे लोग इस वीर सेनानी का साथ देते तो इसमें तनिकभी सन्देह नहीं कि मुसलमानों का साम्राज्य सर्वदा के लिये भारत से उठ जाता। एक ओर दक्षिण से महाराष्ट्र केसरी शिवाजी औरंगज़ेबी सिंहासन पर घुन की तरह लगे थे तो इधर उत्तर पश्चिम से गुरु गोविन्दसिंह वीर सिक्खों की सेना को बढ़ाते जा रहे थे। जैसे उत्तर पश्चिम के हिन्दू राजा हिन्दु जाति के रक्षक की सहायता न कर औरंगज़ेब की सहायता कर रहे थे वैसे ही दक्षिण में भी बहुत से हिन्दू राजा औरंगज़ेब की ओर से शिवाजी के साथ लड़ रहे थे। इसलिए निर्विवाद यह मानना ही पड़ेगा कि हिन्दू जाति की दुर्दशा घर के फूट के कारण ही हुई।

गुरु गोविन्दसिंह ने स्वयं भी बड़ी कष्ट सहन किये और अपने परिवार को भी मुसीबतों के झेलने के लिए कटिबद्ध किया। इस वीर आत्मा ने धर्म के नाम पर अपने चार नौनिहाल बालकों को बलिदान कर दिया। इससे गुरु गोविन्द जी का कितना त्याग कितना उच्च आदर्श और कितनी ऊँची भावना प्रकट होती है।

चमकोर के दुर्ग को जब चारों ओर से मुसलमानों ने घेर लिया तब गुरुजी ने अपने सबसे बड़े पुत्र अजीतसिंह की ओर संकेत किया। वह वीर बालक जिसकी अवस्था अभी १५ वर्ष के ही लगभग थी—कृपाण हाथ में लेकर शत्रु-सेना पर टूट पड़ा और तब तक शत्रुओं का संहार करता रहा जब तक कि उसने वीर-गति प्राप्त न कर ली।

गुरु गोविन्द अन्य पुरुषों की भाँति पुत्र-मोह में फँसने वाले व्यक्ति न थे। अपने पास अन्य वीरों के होते हुए भी उन्होंने यही उचित समझा कि अपने पुत्र को युद्ध-क्षेत्र में भेजें। इससे गुरुजी यह दिखाना चाहते थे कि जाति की रक्षा के लिए मैं पुत्रों का बलिदान भी कर सकता हूँ। पिता के लिए पत्र से बढ़कर कोई प्यारी वस्तु नहीं होती। जो व्यक्ति अपनी जाति और धर्म के लिए अपने पुत्र तक का त्याग कर सकता है उसकी जातीय-भावना कितनी ऊँची होगी? इसको सभी लोग समझ सकते हैं।

कुछ समय तक बालक अजीतसिंह लड़ता रहा किन्तु शत्रु की अतुल सेना का सामना वह वीर अकेला कैसे कर सकता था। लड़ते २ वह वीर गति को प्राप्त हो गया। अपने बड़े भाई की वीर-गति को सुनकर गुरुजी का छोटा बेटा भी उनके संकेत पर युद्ध-क्षेत्र में आ डटा। इसकी अवस्था उस समय केवल ११ वर्ष की ही थी। साधारण मनुष्य भी इस बात को समझ सकता है कि ११ वर्ष का बालक बड़े २ सिपाहियों को कैसे हरा सकता है। फिर भी गुरु गोविन्दजी ने उसे युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित किया। अपनी शक्ति से भी अधिक पराक्रम इस बालक ने दिखलाया। जब लड़ते२ थक गया और उसे प्यास ने अधिक पीड़ित

किया तो पानी पीने के लिये दुर्ग में वापिस लौट आया। गुरु गोविन्दसिंह उस समय दुर्ग की प्राचीर पर चढ़कर देख रहे थे, उन्होंने जुझारसिंह से पूछा—बेटा! युद्धक्षेत्र से बिना विजय प्राप्त किये क्यों चला आया। प्यासे बालक ने कहा पिताजी? थोड़ा जल पिलाइये, गुरु महाराज ने कहा—बेटा मैं जल नहीं पिलाऊँगा। जाकर यवनों से युद्ध कर, तेरा बड़ा भाई स्वर्ग में तेरी प्रतीक्षा कर रहा है वही तुझे जल पिलायेगा। वीर बालक पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर प्यासा ही फिर युद्ध-क्षेत्र में वापिस लौट गया। लड़ते २ सैंकड़ों ही शत्रुओं को अपनी तलवार का ग्रास बनाता हुआ अन्त में अमर गति को प्राप्त हुआ। चमकोर की लड़ाई में गुरुजी ने जान बूझकर अपने दोनों बालकों को जाति-सेवा में भेंट कर दिया। गुरुजी ने ऐसा करना इसलिये उचित समझा ताकि हिन्दु जाति जाग उठे। हिन्दु जनता यह नहीं समझे कि गुरु गोविन्दसिंह अपने लिए या अपने बेटों के लिए युद्ध कर रहा है। गुरुजी ने इस समय अपने साथियों को यह बतला दिया कि मैं अपने स्वार्थ के लिए यवनों से टक्कर नहीं ले रहा बल्कि अपनी जाति और धर्म के लिए ही ऐसे कर रहा हूँ। उनका सिद्धान्त था कि यदि मेरे पुत्र रण-क्षेत्र में मारे जाते हैं और उनसे हिन्दू जाति की रक्षा हो जाती है तो इससे बढ़कर सौभाग्य की बात क्या होगी। केवल अपने पुत्रों को ही— पुत्र न मान कर गुरुजी ने समस्त हिन्दू जाति के पुत्रों को अपना पुत्र समझा। यही कारण है कि प्यासे जुझार-सिंह पर भी उन्हों ने दया नहीं दिखाई। गुरुजी के पुत्रों की वीर-गति देखकर चमकोर दुर्ग के समस्त सिक्ख शत्रु-सेना पर भूखे

सिंह की भाँति टूट पड़े । अपनी शक्ति से भी अधिक उत्साह उन वीरों ने दिखलाया । यह निश्चित था कि यदि वे दो नौनिहाल बालक युद्ध न करते तो सिक्खों में इतना जोश न आता । इसका एक कारण यह भी था कि मुग़ल सेना से टक्कर लेते २ जब गुरु गोविन्दसिंह हारने लगे तो बहुत से सिक्खों ने उनको यह ताना दिया कि आपके कर्मों का फल हमें भोगना पड़ रहा है । हम लोगों को खाना-पीना भी ठीक नहीं मिलता । कुछ कायर साथियों ने तो गुरुजी का साथ भी छोड़ दिया । इस अपवाद को मिटाने के लिए तथा अवशिष्ट सिक्खों में उत्साह संचार करने के लिए गुरु गोविन्दसिंह ने अपने पुत्रों को युद्ध-क्षेत्र में भेजा । प्यासे पुत्र को युद्ध के लिए वापिस भेजने का अभिप्राय अपने सिपाहियों को यह शिक्षा देना था कि विजय प्राप्त किये बिना घर वापिस लौटना महा पाप है । युद्ध-क्षेत्र से वापिस तभी आओ जब कि विजय हो, अन्यथा नहीं ।

गुरु गोविन्दसिंह ने दो पुत्रों का बलिदान चमकोर के दुर्ग में कर दिया पर अभी गुरुजी के दो छोटे पुत्र अभी जीवित थे । अपनी माता जी के साथ दोनों बच्चों को एक ब्राह्मण की देख-रेख में दुर्ग से बाहर भेज दिया । किन्तु उसने विश्वासघात करके सरहिन्द के नवाब द्वारा उनका भी वध करवा दिया । इस प्रकार गुरु महाराज ने धर्म की रक्षा के लिए अपने चारों पुत्रों का अभूतपूर्व उत्सर्ग किया ।

गुरु साहब दृढ़ता और प्रतिज्ञा की मूर्ति थे । सहन-शीलता और न्याय-परायणता तो उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी । धीरता और साहस तो उनमें इतना था कि बड़े २ संकट और कष्ट पड़ने

पर भी वे घबराते न थे। देश की ऐसी अधोगति की अवस्था में हिन्दू जाति और हिन्दू धर्म की रक्षा का बीड़ा उठाना इसी महापुरुष का काम था।

गुरुजी ने अपने त्याग से शक्ति-हीन पुरुषों में भी शक्ति का सञ्चार कर उन्हें अपने कर्तव्य पर आरूढ़ रहना सिखला दिया।

गुरु-गद्दी पर आरूढ़ होते ही गुरु गोविन्दसिंह ने सोचा कि यदि मैं अपने शिष्यों से पूर्व गुरुओं की भाँति रुपया पैसा भेंट में लूँ तो मेरे पास धन ही इकट्ठा होगा, उससे यवनों का मुकाबिला नहीं हो सकेगा। यदि मैं उन शिष्योंसे रुपये पैसे के स्थान पर हाथी घोड़ा, तलवार, बन्दूक, छुरियाँ आदि भेंट में लूँ तो मेरे पास युद्ध की विविध सामग्री एकत्र हो जायेंगी। इसलिए उन्होंने अपने शिष्यों में इस बात की घोषणा करदी कि जो मुझे अच्छेर अस्त्र शस्त्र भेंट में दिया करेंगे मैं उनसे अधिक प्रसन्न होऊँगा। गुरुजी की दूरदर्शिता फलीभूत हुई और चारों ओर से तलवार, बर्छियाँ, गोलियाँ, कवच तमंचे आदि अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र तथा तरह २ के घोड़े आकर जमा होने लगे। सिक्ख संप्रदाय के प्रवर्त के आदि गुरु नानक देव से लेकर गुरु तेगबहादुर तक किसी भी गुरु ने इस तरह की युक्ति नहीं सोची थी। अब गुरु गोविन्दसिंह ने अपने शिष्यों को केवल धार्मिक उपदेश ही नहीं दिया, बल्कि लड़ाई के दाँव-पेच मार-काट के तरीके भी सिखलाये। प्रकृति का नियम है कि प्रत्येक जाति अपने प्राथमिक उत्थान में बहुत वीर होती है। दसवें गुरु गोविन्दसिंहजी ने सिक्ख जाति में नया प्राण डाल दिया। उनकी ओजस्विनी वाणी का उनके शिष्यों पर ऐसा प्रभाव पड़ता था कि वे तन्मय हो जाते और घर-बार सबकुछ भूलकर गुरु

की सेवा में संलग्न रहते। गुरु साहव ने देखा जि जव तक संस्कृत विद्या का प्रचार अपने शिष्यों में नहीं होगा तव तक ये लोग संस्कृति तथा सभ्यता का भली भाँति ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेंगे। उन्होंने इस कमी को पूरा करने के लिये संस्कृत के वड़े २ पण्डितों को संस्कृत पढ़ाने के कार्य पर नियुक्त किया। अनेकों शिष्यों को काशी पढ़ने के लिए भेजा। इनसे पूर्व विद्या का प्रचार किसी भी गुरु ने नहीं किया। धार्मिक उपदेश देने के अतिरिक्त पूर्व गुरुओं का ध्यान दूसरी ओर गया ही नहीं। इसी विलक्षण वुद्धि चातुर्य के कारण गुरु गोविन्दसिंह को सव गुरुओं में यदि सवसे उच्च स्थान में दिया जाय तो अत्युक्ति न होगी।

इनका धार्मिक उपदेश केवल आत्मज्ञान से ही भरभूर न था अपितु उपदेश देते समय गुरुजी हिन्दू जाति के आदर्श वीरों का पवित्र नाम अवश्य उच्चारण कर लिया करते थे। उनका कहना था कि भाइयो? हम लोग क्षत्री हैं, हम कृष्ण अर्जुन और भीम की सन्तान हैं। देश और धर्म की रक्षा करना हमारा प्रथम कर्तव्य है। परन्तु काल की गति से हम इतने गिर गये हैं कि यवनों का इतना अत्याचार देखते हुए भी कुछ नहीं वोलते। हमारे चारों ओर गोवध जारी है, हमारी स्त्रियों और लड़कियों के साथ वलात्कार किया जाता है। हमारे धर्मशिक्षक तलावार की भेंट हो रहे हैं और हम लोग चुपचाप देखते जाते हैं। कितनी लज्जा की वात है। आप लोग अपनी विलास-प्रियता को छोड़िये और सव मिलकर देश-जाति और धर्म की रक्षा करने को तय्यार हो जाइये।

इस प्रकार प्रभावशाली व्याख्यानों से गुरुजी ने 'एक पन्थ दो

काज' की उक्ति द्वारा धार्मिक उपदेश के साथ अनोखा सैन्य-संगठन भी कर लिया। जब तक सिक्ख सेना साथ देती रही स्वयं लड़ते रहे किन्तु जब अपनी सेना के सिपाही वीर गति को प्राप्त हो गये तब गुरुजी अन्य किसी उपाय से मुस्लिम सत्ता का नाश करने के लिए चिन्तित हो उठे। यात्रा के बहाने दक्षिण की ओर गये। यह हम पहिले लिख आये हैं कि—दक्षिण में वैरागी माधवदास उन दिनों बड़ी ख्याति प्राप्त कर चुका था। गुरुजी ने उसे पंजाब जाने और मुसलमानों से बदला लेने के लिए प्रेरित किया। गुरुजी की सद्भावना का ही प्रताप था कि संसार को त्यागकर तपस्या में लीन वैरागी फिर से कर्म-क्षेत्र में आ डटा। यदि अन्य कोई उससे युद्ध के लिए प्रेरणा करता हो सम्भव था कि वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। गुरु जी ने वैरागी के आगे भिक्षा नहीं माँगी अनुनय विनय नहीं की, बल्कि सिंह की तरह गर्जना कर वैरागी से यों कहा—कि आप अपने जीवन को व्यर्थ नष्ट क्यों कर रहे हैं। सिद्ध वैरागी माधवदास ने भी निर्भीक वाणी में उत्तर दिया—जीवन तो सबका ही नष्ट हो रहा है। भगवान् का भजन करके मैं भी समय काट रहा है आत्म-कल्याण के लिए भगवान् का भजन ही मुख्य है। गुरु महाराज वैरागी की तपश्चर्या से प्रसन्न तो थे परन्तु वे इस वीर पुरुष को इस तरह अकेला बैठकर तपस्या करते देखना उचित न समझते थे। इस लिए उन्होंने कड़कते हुए स्वर से कहा—तब तो आप बड़े स्वार्थी हैं। अपने कल्याण के लिए जप, तप, ज्ञान ध्यान में लगे रहना स्वार्थ नहीं है तो क्या परमार्थ है। पाठक इस बात को समझ लें कि एक

वीर पुरुष अपने समान बलवान् वीर के सामने नम्रता के स्थान पर तीखे शब्दों का प्रयोग करता है। वीर अभिमन्यु ने अपने पितृ-गुरु द्रोणाचार्य को बाण छोड़कर ही अभिवादन किया था। दुष्यन्त जब शकुन्तला के वियोग में उदासीन बैठा था तो चतुर मातली ने विदूषक को सताकर दुष्यन्त को क्रोधित किया था ताकि असुरों को मारने के लिए वह इन्द्र की सहायता कर सके। गुरु जी नीति-कुशल थे। वीर बैरागी को उत्तेजित करके अपना मनोरथ पूरा करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। आखिर उनकी इस नीति ने अपना चमत्कार दिखाया और बैरागी भी उत्तेजित हो कर बोल पड़ा—आखिर आप क्या चाहते हैं? गुरु जी ने उत्तर दिया—आप यहाँ शान्ति से स्वर्ग की प्राप्ति के लिए साधन कर रहे हैं और आपकी जाति की स्त्रियों को मुसलमान भ्रष्ट कर रहे हैं। मन्दिर तोड़े जा रहे हैं, चोटियाँ काटी जा रही हैं और लाखों हिन्दू मुसलमान बनाये जा रहे हैं। गोहत्या बढ़ती जा रही है। समस्त पंजाब में हाहाकार मच रहा है। हिन्दुओं की रक्षा के लिए कोई भी सपूत आगे बढ़ने को तय्यार नहीं। ऐसे समय में आप का चुपचाप यहाँ बैठे रहना शोभा नहीं देता।

इस प्रकार वीर बैरागी को हिन्दू धर्म की रक्षा के निमित्त कर्म-क्षेत्र में स्थिर करने का श्रेय भी गुरु गोविन्दसिंह जी को ही है। जब तक गुरु जी जीवित रहे। उनका ध्येय, उनकी धारणा अपने हिन्दु भाइयों के उद्धार की ओर लगी रही। प्रान्तीयता का भेद-भाव भी गुरु जी के मन में नहीं था। वे सारे भारतवर्ष को अपना देश समझते थे। वैसे भी उनका जन्म-स्थान पटना, युद्ध-क्षेत्र पंजाब और मृत्यु-स्थान दक्षिण। इस प्रकार सारा भारत ही गुरु

जी का अपना घर था। हिन्दू जाति ही उनकी जाति तथा हिन्दू धर्म ही उसका धर्म था। ऐसा व्यापक पुरुष इनके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं दिखाई देता। गुरु जी ने जहाँ सिक्खों तथा हिन्दुओं में संगठन का बीज बोया वहाँ वे चरित्र-गठन की ओर भी ध्यान देते थे। प्रत्येक पुरुष को सदाचारी सत्यवादी होने का उपदेश देते थे। अपने शिष्य-सैनिकों की देख-रेख भी वे स्वयं ही करते थे। उनके साथ अपने पुत्रों जैसा आचरण करना गुरु जी अपना परम कर्तव्य समझते थे।

अब तक जो गुरु प्रथा चली आ रही थी। इन्होंने उसको समाप्त कर (गुरु वाणी को ही गुरु माना जाय) आगे के लिये कोई अन्य गुरु मानने से इनकार कर दिया। अतः आज तक सिक्ख जनता उनके आदेशानुसार ग्रन्थ साहब को ही अपना गुरु मानती चली आ रही है। ग्रन्थ साहब दसों गुरुओं की वाणी का संग्रह है। किन्तु ग्रन्थसाहब के पढ़ने से पता चलता है कि जितनी सुसंस्कृत मँजी हुई भाषा गुरुगोविन्दसिंह की वाणी में मिलती है उतनी अन्य किसी में नहीं। क्योंकि गुरुगोविन्दसिंह अन्य गुरुओं की अपेक्षा अधिक पढ़े लिखे थे। वे एक तो विद्वान् थे साथ ही प्रतिभा-सम्पन्न भी। पर इनकी विद्या ऐसी न थी कि रात दिन किताबों का मनन करने में अपना समय व्यतीत करते। युद्ध-क्षेत्र में भी एक ओर शत्रुओं से संघर्ष हो रहा है तो दूसरी ओर थोड़ा समय मिलने पर शास्त्र-चिन्तन करने लगते। कहने का अभिप्राय यह है कि गुरुसाहब की गति चारों ओर थी। राजा के स्थान पर राजा, गुरु के स्थान पर गुरु, सेनापति के स्थान पर सेनापति और त्यागी के स्थान पर एक अपूर्व

त्यागी। यदि गुरुसाहब का अभ्युदय न होता तो हिन्दू जाति लड़खड़ाती और नष्ट-भ्रष्ट हो जाती। सिक्ख लोग एक प्रकार के कबीर पंथ, दादूपंथ की भाँति नानक पंथ का अवलम्बन लिये खड़े रहते। आज जो वीरता का गौरव सिक्ख जाति को प्राप्त है उसका एक मात्र कारण गुरु गोविन्दसिंह हैं। अंगरेज़ लोग भी सिक्खों का लोहा मानते हैं। क्योंकि वर्तमान काल में सिक्खों ने बड़ी वीरता से लड़ाइयाँ लड़ीं। स्मरण रहे कि सिक्खों की युद्ध विद्या के गुरु, गुरुगोविन्दसिंह ही थे। जिस गुरुसाहब ने हिन्दू जाति की रक्षा के लिए सिक्खों को लड़ना सिखाया उनको क्षत्रियत्व की पदवी देकर जाति-रक्षक बनाया वही सिक्ख जाति आज अपने आप को हिंदुओं से भिन्न जाति स्वीकार कराने पर तुली हुई है। परन्तु गुणग्राही हिन्दुओं को चाहिए कि जो स्थान वे महाराष्ट्र केसरी शिवाजी को देते हैं, जो श्रद्धा उनके मन में राणा प्रताप के लिए हैं वही श्रद्धा—भक्ति भावना गुरुगोविन्दसिंह के प्रति भी होनी चाहिए। गुरुजी के गुणों की जितनी चर्चा की जाय कम है फिर भी आवश्यकीय घटनाओं का त्याग हमने भी नहीं किया।

अमर शहीद वीर बन्दा वैरागी

पञ्जाब के ऐतिहासिक साहित्य में सिक्ख धर्म के प्रवर्त्तक तथा संरक्षक दस गुरुओं के बाद हिन्दू जाति के प्रवर्तक और सुधारकों में वीर वैरागी का नाम बड़े गौरव और श्रद्धा से लिया जाता है। ये एक अद्वितीय महान् पुरुष हो चुके हैं। किसी जाति के बहुत काल तक जीवित रहने का केवल मात्र यही एक चिह्न है, कि उसमें समय २ पर महापुरुष जन्म लेते रहते हैं। ये महापुरुष जाति देश तथा समाज में नूतन जीवन का सञ्चार करते हैं। गहरी नींद में सोई हुई मृतप्राय जाति तथा समाज को देश की महान् आत्माएँ ही जागृत करके उन्हें कर्तव्य-पालन की ओर अग्रसर करती हैं। सारे हिन्दू भारत को और विशेष कर पञ्जाब की सिक्ख जाति को वीर वैरागी ने किस ऊँची चट्टान पर ला खड़ा कर दिया। पाठकों को इस बात का पता इस छोटे से लेख से भली भान्ति चल जायेगा। यह लेख उनके जीवन की एक झाँकी है, विस्तृत विवेचन ऐतिहासिक ग्रन्थों में भरा पड़ा है। परन्तु इसमें भी किसी घटना को छोड़ा नहीं गया। प्रायः सभी घटनाएँ लिखी गई हैं। इस महापुरुष का जन्म कार्तिक शुक्लपक्ष संवत् १७२७ को पुँन्छ रियासत के राजोर, गाँव में हुआ। आपके पिता का नाम रामदेव था।

ये जाति के क्षत्री थे। भारतीय महापुरुषों के जन्म-स्थान, और तिथि आदि में प्रायः वाद-विवाद चला ही करता है। क्योंकि निश्चित तिथि तथा निश्चित स्थान का लिखना यहाँ के साहित्यकारों की प्रकृति के विरुद्ध रहा है। इसलिए वीर वैरागी के सम्बन्ध में भी लोगों की यह धारणा है कि ये दक्षिण के थे। कोई उन्हें ज़ालन्धर ज़िले का मानते हैं। ख़ैर, कुछ भी हो इतना तो प्रसिद्ध ही है कि गुरु गोविन्दसिंह ने अपनी मातृभूमि पञ्जाब की सेवा करने के लिए उन्हें प्रेरित किया। मातृभूमि पञ्जाब के प्रति उनकी सच्ची भक्ति का दिखाना और दक्षिण को छोड़ कर यहाँ आना यह अकाट्य प्रमाण इनके पञ्जाबी होने के द्योतक हैं। इनका बचपन का नाम लक्ष्मणदेव था राजपूत होने के नाते इनमें दो प्राकृतिक गुण थे। इनको शिकार खेलने का बड़ा शौक था। इसीलिए इनका निशाना अचुक था। शिकारी के लिए घोड़े की सवारी आवश्यक है। यह विद्या मनुष्य शिकार खेलते-खेलते स्वयं सीख जाता है। आगे चल कर जब उसको सेना-सञ्चालन या वीर योधा बनने की आवश्यकता होती है तो ये दोनों गुण उस के बड़े काम आते हैं। इतिहास पर दृष्टि डालने से यही पता चलता है कि संसार के बड़े २ वीर सेनानी बचपन से ही कुशल शिकारी, अद्वितीय घुड़सवार और अचूक निशानची थे। शिकारी का दिल बड़ा कठोर होता है। इसी कारण वह निदर्यता-पूर्वक निर्दोष प्राणियों को वध कर देता है। पर यदि उसको शत्रुओं का सामना करना पड़े तो वह बड़ी निदंयता से उनको अपने पैरों तले रौंद डालता है। बस यही

गुण लक्ष्मणदेव को आगे चलकर एक वीर सेनानी के रूप में बदलने वाला हुआ। किन्तु इनके जीवन में बड़ा परिवर्तन आया। एक समय की बात है कि इन्होंने एक हरिणी को तीर का निशाना बनाया। बेचारी हरिणी घायल होकर लुढकती हुई दूर जाकर अचेत हो गिर पड़ी। वह गर्भिणी थी, उसके पेटसे बच्चे निकल पड़े और उस ने तड़फड़ा कर अपने प्राण त्याग दिये। इस दृश्य से लक्ष्मणदेव के चरित्र पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसका दिल पिघल आया। अनाथ नवजात-बच्चों की करुण दशा उससे न देखी गई। अतः उसने निश्चय कर लिया कि आज से मैं शिकार-रूपी दुष्कर्म को त्याग दूँगा। बस यहीं से उनके जीवन का स्वरूप बदल जाता है। इन्होंने जानकी-दास एक वैरागी से जान पहिचान की और उसी के साथ लाहौर चले आये। अब लक्ष्मणदेव माधोदास के नाम से पुकारा जाने लगा। कुछ दिन लाहौर रहने के बाद माधोदास तीर्थ-यात्रा करने के लिये अनेक तीर्थों में घूमता हुआ पञ्चवटी जा पहुँचा। यहां के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर इसी वन में उसने अपना डेरा जमा लिया और अनवरत रूप से तप करने लगा। भाग्य-वश एक सिद्ध महात्मा की कृपा से इसको भी अद्वितीय सिद्धि प्राप्त हो गई। अब सिद्ध माधोदास ने पञ्चवटी को त्यागकर गोदावरी के किनारे अपना स्थान बना लिया। भक्ति की असाधारण शक्ति के कारण उसके पास असंख्य लोग आने लगे। कई एक तो उसके चेले बन गये। कई मनुष्यों की तो यह धारणा बन गई थी कि वैरागी ने जिन या भूत-प्रेत सिद्ध किये हुए हैं। इन दिनों दक्षिण में मराठों के

साथ औरङ्गज़ेब की घमसान लड़ाई हो रही थी। वीर वैरागी सब कुछ सुनकर भी संसार से विरक्त होने के कारण हिन्दू जाति की रक्षा के लिए कोई कदम नहीं उठाता था, किन्तु ईश्वर को यह स्वीकार न था। उनको वैराग्य के शुष्क स्थल से हटकर कर्म के क्षेत्र में आना पड़ा। त्यागी हुई तलवार और धनुप-बाण को फिरसे अपनाना पड़ा। वास्तव में बात यह थी कि पञ्जाबके वीर-शिरोमणि गुरु गोविन्दसिंह ने अत्याचारी मुसलमान शासकों के साथ बड़ा प्रतिद्वन्द्व किया। जिसमें इनको अपने लाड़ले बच्चों तक का बलिदान करना पड़ा। अन्तमें अपने प्रान्त और सिक्खों की उन्नति के उपाय सोचते २ दक्षिण की ओर चल पड़े। इनकी इच्छा थी कि किसी प्रकार किसी से सहायता प्राप्त कर पञ्जाब का उद्धार किया जाय।

वैरागी की कीर्ति बड़ी दूर तक फैली हुई थी। इसलिए वह गुरु गोविन्दसिंह के कानों तक भी पहुँची। निदान गुरुजी ने वैरागी से मिलने का निश्चय किया। आखिर गुरुजी जब वैरागी के मठ में गये तो बाह्य परिचय न होने पर भी एक वीर आत्मा ने दूसरी वीर आत्मा को झट से पहचान लिया। गुरुजी बड़ी २ कुर्बानियाँ कर चुके थे और वैरागी को अभी करनी थीं।

एक सच्चे वीर क्षत्री ने वैरागी के हृदय में क्षात्रधर्म का बीज बो दिया। उसे अकर्मण्यता के मार्ग से कर्म के मार्ग पर ला खड़ा कर दिया। मातृभूमि के दुखों का ऐसा चित्र गुरुजी ने खींचा कि साधु महात्मा झट से कह उठा कि "मैं आपका बन्दा हूँ" गुरुजी ने उत्तर में कहा यदि तुम सचमुच मेरे बन्दा हो तो मातृभूमि की वन्दना करो

बस, उसी दिन से आपका नाम बन्दा या बन्दा बहादुर पड़ गया। कुछ सिक्खों को साथ लेकर बन्दा बैरागी पञ्जाब की ओर चल पड़ा। रास्ते में कई एक देश-भक्तों से उसकी भेंट हुई। उसे पर्याप्त आर्थिक सहायता भी मिली। सुदूर दक्षिणकी लम्बी यात्राके अनन्तर बन्दा बैरागी पञ्जाब पहुँचा और सैनिक संगठन करने लगा। इधर गुरुजी के दक्षिण चले जाने के बाद कुछ सिक्ख नवाब सरहिन्द के यहाँ नौकर हो गये। नवाब इनका सदा अपमान किया करता। किसी सेनानायक के न होने से वे बेचारे चुप रह कर सब कुछ सहते। बन्दा बहादुर के पहुँचने पर बहुत सारे सिक्ख इनसे आकर मिल गये। छोटी सी फौज तैयार हो गई। इस छोटी सी टुकड़ी को लेकर बैरागी ने 'सामना' के शहर की लूट-पाट शुरू करदी। साथ ही यह घोषणा भी करदी कि लूट का माल लूटने वाले का अपनार होगा। तीन दिन की लूट मार से सारा शहर खाली हो गया। सर्व-प्रथम इसी नगर पर इतने प्रकोप का विशेष कारण यह था कि गुरुजी के बच्चों को मरवाने वाला अलीहुसेन और गुरु तेग-बहादुर का घातक जलालउद्दीन दोनों यहीं रहते थे। सरकारी खज़ाना सैनिकों ने आपस में ही बाँट लिया। इस समाचार के सुनते ही हज़ारों लुटेरे और डाकू बन्दा बहादुर की फौज में आ मिले। एक बड़ी भारी सेना तैय्यार हो गई और इसने अम्बाला, सौफाबाद, संवारा, दावल आदि शहरों को लूट लिया। एक और पठानी गाँव लूटने के बाद बैरागी को नवाब की सेना से मुकाबिला करना पड़ा। किन्तु बैरागी के तीरों की बौछार ने सेना के पांव उखाड़ दिये।

एक सढ़ोरा नगर के शासक उस्मानखाँ ने हिन्दुओं पर बड़े अत्याचार किये थे। हिन्दू बहू-बेटियों की इज़्ज़त उतारना उसके लिए एक मामूली सी बात थी। बन्दा बहादुर ने इसके ऊपर धावा बोल दिया। दिन भर लड़ाई होती रही, क्योंकि वह भी असंख्य मुसलमानों का दल बनाये बैठा था। बन्दा बहादुर के ज़हरीले बाणों के आगे वह भी बहुत समय तक न टिक सका। उस्मानखाँ को पेड़ से बांधकर मार दिया गया। वैरागी ने कुछ दिनों में मुखलिसगढ़ के क़िले पर अधिकार कर लिया। पूर्वी पञ्जाब में वैरागी की धाक जम गई। हिन्दू जनता इनको धर्म-रक्षक ईश्वर का अवतार में समझने लगी। बड़े २ वीर हिन्दु-युवक इनकी सेवामें आ पहुँचे। कपट रूप से सैकड़ों मुसलमान भी इनके साथ मिल गये और गुप्तरूप से नवाब सरहिन्द से मिले रहे। इनकी एक गुप्त चिट्ठी बन्दा बहादुर के हाथ लग गई। अतः उसने सब मुसलमानों को बुरी तरह से मरवा दिया। उस दिन से इन्होंने कभी भी मुसलमानों का विश्वास नहीं किया। वह समय लूट-मार का था। छोटे-छोटे राज्यों से लेकर बड़े२ साम्राज्य तक की नींव लूट-मार के बल पर ही आश्रित थी। लुटेरों का सरदार अपने साथी डाकुओं को लालच देकर छोटे बड़े गाँवों को लूटता और अन्त में किसी किले को विजय करके राजा बन बैठता। किन्तु स्मरण रहे कि वैरागी के सभी सैनिक लुटेरे ही न थे। न ही वैरागी की यह इच्छा थी कि लूटमार से जनता को तंग किया जाय। किसी न किसी प्रकार से हिन्दू जाति की रक्षा करना ही उसका मुख्य उद्देश्य था। जो कोई भी हिन्दू उनसे सहायता

के लिए आता वे फौरन उसकी सहायता करते। एक गाँव के ब्राह्मणों ने मुसलमानी अत्याचारों से पीड़ित होकर इनसे प्रार्थना की। इस पर बन्दा बहादुरने फतहसिंह को सेनापति, बाजसिंह को खज़ानची तथा अन्य सरदारों को दूसरे अधिकारों पर नियुक्त कर ब्राह्मणों की रक्षा के लिए भेज दिया। उन्होंने भी एक एक करके सारे अत्याचारी मुसलमानों को कुचल डाला। माझे के सिक्ख वैरागी की सहायता न कर सकें, उनको रोकने के लिए सरहिंद के सूबे ने ५ हज़ार सेना भेजी। किन्तु उसे बन्दा बहादुर के सामने हार खानी पड़ी। सरहिंद पर वैरागी की तीखी नज़र थी, क्योंकि यहीं गुरुगोविन्द सिंह के बच्चे दीवार में चुनवाये गये थे। आखिर प्रतिहिंसा की ज्वाला एक दिन भड़क उठी। और बन्दा बहादुर ने सरहिन्द के नवाब पर आक्रमण कर ही दिया। दोनों सेनाएँ बड़ी वीरता से लड़ीं। घोड़ों और मनुष्यों की लाशों के ढेर लग गये और खून की धारा बह निकली। नवाब की तोपें आग उगल रही थीं, परन्तु दूसरी ओर केवल तलवार और तीर ही चल रहे थे। एक दो बार सिक्ख-सेना भी पीछे हटी, पर वैरागी के तीरों ने तोप चलाने वालों को अपना निशाना बना लिया और निकट पहुँचकर बन्दा बहादुर म्यान से तलवार निकाल कर दुश्मनों पर टूट पड़ा। वजीरखाँ से भी पूरा मुकाबला हुआ। उसको भागता देख वैरागी ने गिरफ़्तार कर सारे नगर में हत्याकांड जारी कर दिया। किले में प्रवेश कर वैरागी ने वजीरखाँ को बुला उस के सामने उसके सारे परिवार का वध करवा दिया। बाद में उसे

ज़िन्दा ही अग्नि में डाल दिया। इसके वाद सूबे के दीवान सुचानन्द को वुला उसे भी जान से मार डाला। हिन्दू होने पर भी यह गुरु गोविन्दसिंह के वच्चों को दीवार में चुनवाने में सहायक था। इसके वाद वन्दा वहादुर विजेता राजा की तरह मालेरकोटला की ओर वढ़ा और जिगरांव, रायकोट को अपने अधिकार में कर लिया। कुछ दिन लुधियाना में ठहर कर दुआवे पर चढ़ाई कर दी। इस प्रान्त के मुसलमान या तो भाग गये या भेंट लेकर वन्दा की सेवा में उपस्थित हो गये। इस लिये जहाँ कोई लड़ाई नहीं करनी पड़ी। जालन्धर, फगवाड़ा सूरसिंह, पट्टी, झापाल, खेमकर्ण आदि इलाके विना परिश्रम किये अधिकार में आ गये। हाँ वजवाड़ा के नवाव ने रुकावट पैदा की, किन्तु अन्त में वह भी हार गया। आश्चर्य की वात है कि इतनी विजय के वाद भी उस वीर पुरुष के हृदय में राज्य करने की लालसा नहीं जगी। उसने अपने अधिकारियों में ही सारा विजित राज्य वाँट दिया। करनाल और पानीपत वावा विनोदसिंह को और सरहिंद का सूवा वाजसिंह को दे दिया। करनाल से लेकर कांगड़ा प्रान्त तक वावन लाख के विशाल प्रदेश पर फिर हिन्दु-राज्य स्थापित हो गया।

मुसलमान शासकों में इसका दवदवा छा गया। उनको यह पूर्ण विश्वास हो चुका था कि वैरागी ने जिन्न, भूत अपने वश में किये हुए हैं। यद्यपि कुछ नरम दल वाले हिन्दू इनकी इतनी सख्ती से चिढ़ते थे और कई विरोधी भी वन गये थे। किन्तु वैरागी वावा का

एक मात्र मुसलमानों का समूल नाश करना ही उद्देश्य था। थोड़े दिनों के बाद वन्दा वहादुर अमृतसर आया और उसने दरबार साहब में बहुत सी भेंट चढ़ाई। कई जाटों को सिक्ख बनाने का उपदेश दिया। जो जाट सिक्ख बन जाते थे उनसे कोई कर नहीं लिया जाता था। परन्तु इतनी बड़ी विजय के बाद भी सिक्ख जाति सबल न हो सकी। वन्दा वहादुर की अनुपस्थिति में मुसलमान सिक्खों को बहुत सताया करते थे। परन्तु वैरागी के पहुँच जाने पर शांति हो जाया करती। इनकी विजय में राजनैतिक परिस्थितियाँ भी बहुत कुछ सहायक हुईं। उन दिनों दिल्ली का केन्द्रीय शासन डगमगा रहा था। दक्षिण से मराठों ने मुग़लों को नाकों चने चबा दिये थे। दिल्ली का मुग़ल सम्राट् दक्षिणोत्तर तथा पश्चिम को अपने हाथ से गँवा बैठा। दक्षिण में मरहठों का राज्य था तो उत्तर पश्चिम में वन्दा बहादुर का। वास्तव में वन्दा बहादुर राजा नहीं था। वह तो अपने अधिकारियों में राज्य बाँट कर स्वयं अलग ही रहता था। पञ्जाब के हिन्दुओं के लिए तो मानो यह अवतार ही था। प्रायः मैदानी प्रान्त में उसका बोलबाला था। यद्यपि पहाड़ी हिन्दू राजा वैरागी के विरोधी तो न थे पर उससे उदासीन अवश्य थे। वैरागी ने जेजों कैलोर के राजा अमेरचन्द को पत्र लिखा कि आपने पहिले तो गुरु जी का विरोध किया है। अब आप अपने इस विचार को बदल कर सिक्खों की सहायता करें। अभिमानी अमेरचन्द ने उत्तर में लिखा कि—जैसे उनको भगाया है, वैसे ही तुम्हें भी भगा देंगे।

वस फिर क्या था वैरागी ने तुरन्त ही उस पर चढ़ाई कर दी। कई पहाड़ी राजा उसके सहायक थे। परन्तु अन्त में सब ने अधीनता स्वीकार कर ली। सम्वत् १७६७ में मण्डी नरेश बन्दा को अपने राज्य में ले गया और उन्हें अपना गुरु बना लिया। उस समय इनकी इच्छा राजसी ठाट-बाट से रहने की हुई। अतः इन्होंने एक क्षत्री कन्या से विवाह भी कर लिया। पर्वतीय प्रान्त में जन्म लेने के कारण वैरागी का पर्वतीय प्रान्तों में विशेष प्रेम था। जब अधिक दिनों तक ये पहाड़ी प्रान्तों में रहने लगे तो इधर प्रतिशोध रूप में मुसलमान सिक्खों पर बड़े अत्याचार और सख्तियाँ, करने लगे। यद्यपि सिक्ख बन्दा वैरागी का मान तो करते थे परन्तु दिल से कुढ़ते भी थे। यही कारण है कि कुछ सिक्खों का एक विरोधी दल भी बन गया जो लगातार बंदा वैरागी के विरुद्ध ज़हर उगलता। विवाह कर लेने के बाद तो उनको एक और भी बड़ा अच्छा बहाना मिल गया। विरोधियों का कहना था कि वैरागी भोगों में ग्रस्त हो गया है। इसका तप जाता रहा है और इसने धर्म-युद्ध छोड़ कर अपने पन्थ का परित्याग कर दिया है। कुछ भी हो, यह सिक्खों की अदूरदर्शिता थी। इन दिनों सन्त वैरागी कुल्लू मण्डी आदि पर्वतों के प्राकृतिक दृश्यों का दर्शन कर अपना दिल बहला रहा था और इधर दिल्ली के मुग़ल सम्राट् औरङ्गज़ेबकी मृत्यु के बाद बहादुर-शाह ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली। सभी पर्वतीय प्रान्त तथा करनाल और पानीपत आदि पर वैरागी का अधिकार देख बहादुरशाह ने अपने सेनापति हाजी इस्माईलखाँ और इनायत अल्लाहखां को

बड़ी सेना के साथ, सिक्खों पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। वस फिर क्या था दिल्ली की शाही सेना को देख कर बाबा विनोद-सिंह करनाल छोड़ कर सरहिन्द आ पहुँचा। मुगलों ने सिक्खों से पूरा २ बदला लिया। सरहिंद पर भी मनीमखाँ ने अधिकार कर लिया। हिन्दु सिक्ख वैरागी बाबा को याद करते २ थक गये, अब इनका कोई अन्य सहायक न था। यह समाचार जब वैरागी के कानों में पड़ा तो वह बिजली की तरह कुल्लू से भागा और हुशियारपुर आन पहुँचा। हरिणों के ऊपर सिंह की भाँति वीर वैरागी मुसलमानों पर टूट पड़ा। अब तो मृतप्राय: सिक्ख जाति में भी प्राण विद्युत दौड़ पड़ी। सबका उत्साह बढ़ गया। हिन्दु स्त्रियाँ वैरागी को सौ-सौ आशिष् देने लगी। मुसलमानों के घरों में फिर से पहिले जैसा हाहाकार मच गया। इस तरह वीर वैरागी के आते ही—सारा प्रान्त फिर स्वाधीन हो गया। सारे राज्य में दौरा करके त्यागी वीर ने इस समय लुधियाना का प्रान्त रामसिंह को दे दिया। मालवा फूलकियों को और माझा मझालियों को दे दिया। हाँ अपनी राजधानी लोहगढ़ का किला बनाकर नदल-बल उसने घूमना प्रारम्भ कर दिया। इस भ्रमण में इन्होंने सर्व-प्रथम गंगाराम ब्राह्मण को सपरिवार पकड़ा और नगर के प्रमुख थाने-दारों सहित उसे मार डाला। क्योंकि गंगाराम ब्राह्मण ने गुरु के पुत्रों को धोखे से पकड़वाया था। इसके बाद वैरागी ने सहारन-पुर की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया और वहाँ के शासक अली-मुहम्मद के साथ टक्कर ली। मुगल सेना का सेनापति सरदार

गालिबखाँ मौत के घाट उतार दिया गया। फिर क्या था सेना में भगदौड़ मच गई, और समूचे शहर में लूट-मार मच गई। इसके पश्चात् नजीबाबाद की बारी आई। बैरागी ने वहाँ भी घेरा डाल दिया। पहिले तो वहाँ का शासक शाहनवाज़खाँ खूब लड़ा किन्तु ज्वालामुखी में पतंग का क्या पता चलता है। जिस वीर बैरागी ने बड़े २ नवाबों के दाँत खट्टे कर दिये। उसके सामने एक छोटे से यवन शासक की क्या चल सकती थी। आस-पास के सारे इलाके लूट लिये गये, मुरादाबाद, जलालाबाद आदि प्रान्तों पर भी आक्रमण हो गया।

आश्चर्य की बात है कि बैरागी जिधर जाता था वहाँ आँधी और बवंडर की भाँति जाता और लूट-खसूट करके जल्दी ही लौट आता। उस बवंडर में जो पड़ते वे कुचले जाते या पिस जाते और भागने वाले भी बड़ी कठिनाई से बचते। इस वीर के पास अजीब शक्ति थी, अकेले ही चारों ओर अपने बल पर लड़ता, विजय पाता और अन्त में त्यागी बन कर बैठा रहता। युद्ध से विरत हो भगवद्भजन में लग जाता। यदि मर्यादापुरुषोत्तम राम से इसकी तुलना की जाय तो अत्युक्ति न होगी। रामने भी तपस्वी के भेष में राक्षसों को पछाड़ कर बड़ी निर्दयता ही उनका वध किया था। यही गुण साधु वेषधारी बैरागी में था। तपस्वी वेषधारी मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने थोड़ी सी वानरों की सेना लेकर तीनों लोकों के विजेता, शक्तिशाली रावण को जैसे परास्त कर दिया। उसी प्रकार बहादुर बैरागी ने भी कुछ एक सिक्ख सैनिकों को साथ लेकर मुग़ल-साम्राज्य

की जड़ों को खोखला कर दिया। क्या यह अलौकिक शक्ति न थी। बिजली की चकाचौंध भले ही स्थायी न रहे किन्तु कुछ काल के लिए वह सारे भुवन-मंडल को अपने प्रकाश से आच्छादित कर देती है। प्रतापी वैरागी के चमत्कारों से हिन्दु ही विस्मित न थे। किन्तु मुसलमान तो बड़े विस्मित और सदैव भयभीत रहा करते थे। दिल्ली सम्राट् बहादुरशाह के पास वीर वैरागी की कई बातें गुप्तचरों द्वारा पहुँच जाया करती थी। प्राय: देखा जाता है कि यदि कोई जाति किसी युद्ध से सफलता प्राप्त नहीं कर सकती तो उसको धर्म का बहाना लेकर भड़काया जाता है। बहादुरशाह ने कुछ वीर मुसलमानों के सामने म्यान से तलवार निकाली और उसे ज़मीन पर रख कर कहा कि धर्म-रक्षक के नाम पर कोई भी इस तलवार को उठाने वाला है जो अपने धर्म के शत्रु का नाश कर सके। किसी ने भी तलवार न उठाई। अत: अन्त में लाचार होकर असगरखां, असदुल्लाखाँ और नूरखाँ तीनों को एक बड़ी सेना देकर भेजा गया। कोट आबूखाँ के समीप युद्ध ठन गया। फिर सिक्खों की पराजय होने लगी।

शाही सेना एक लाख के करीब थी। इधर वैरागी के साथ केवल २०-२२ हज़ार सैनिक थे। इस युद्ध में वैरागी की पराजय हुई, सारी सेना में भगदौड़ मच गई। वैरागी भी घोड़ा भगा मैदान छोड़ गया। मिर्जाबेग के पुत्र नवाबबेग ने उसका पीछा किया। वैरागी के सारे साथी तितर-बितर हो गये। दिन ढल चुका था। एक घने जंगल में घोड़ा छोड़ कर वैरागी पैदल ही

दौड़ पड़ा। अँधेरी रात थी। भगवान् इन्द्र ने भी कुपित होकर वर्षा प्रारम्भ करदी। भूख और प्यास से वीर वैरागी व्याकुल हो रहा था। साथ ही शत्रु पीछा करता आ रहा था। उसे नज़दीक ही आग जलती नज़र आई, यह एक बाग़ था। माली और मालिन बड़े आनन्द से आग सेंक रहे थे। वैरागी इस स्थान पर पहुँचा ही था कि पीछा करने वाले भी आ पहुँचे। प्राण रक्षा के लिए वह कुयें में उतर पड़ा, बाद में चुपके से भाग निकला और बड़ी कठिनाइयों का सामना करता हुआ शत्रु की आँखो से ओझल हो गया।

कुछ दिनों बाद बन्दा वैरागी लोहगढ़ के क़िले में जा पहुँचा। किन्तु शाही सेना विजय करती हुई लोहगढ़ भी आ पहुँची और उसने क़िले पर घेरा डाल दिया। सिक्खों का उत्साह भंग हो गया किन्तु वैरागी के जादू-भरे वचनों ने उनमें फिरसे जोश भर दिया। यह बात कितने दिनों तक रह सकती थी। आखिर किले के चारों ओर घेरा पड़ने से खाद्य सामग्री का नितान्त अभाव हो गया अब तो सिक्ख वैरागी को ताने देने लगे—कहाँ गई तुम्हारी शक्ति? तुम्हारे तप को क्या हो गया? इत्यादि। इन बातों से वीर बंदे को बड़ा क्रोध आया उसने शाही सेना पर रात को छापा मारा, परन्तु इससे भी कोई सफलता नहीं मिली। आखिर वैरागी ने अपनी शक़ल सूरत का एक आदमी अपनी जगह रखकर पहाड़ों का रास्ता लिया। इधर नकली वैरागी पकड़ा गया। बहादुरशाह पहिले तो बड़ा खुश हुआ क़िन्तु भेद खुलने पर उसे इतना

गुस्सा आया कि वह स्वयं वैरागी को पकड़ने के लिये युद्ध-क्षेत्र में कूद पड़ा। बाहर की तड़क भड़क से यद्यपि बादशाह बड़े रोब-दाब से लड़ाई के लिये चल पड़ा किन्तु भाग्यवश बादशाह, लाहौर पहुँचकर बीमार हो गया और सं० १७७० में उसकी मृत्यु हो गई। बस अब क्या था? दिल्ली में राज-सिंहासन के लिये अन्तर्द्वन्द्व चलने लगा। सिक्खों के दिन पलट गये। कभी मुसलमान विजयी होते तो कभी सिक्ख। वैरागी ने भी फिर सेना एकत्र करके सारे प्रान्तों पर अपना अधिकार कर लिया और इस समय इनके नाम का सिक्का भी चलने लगा। परन्तु उसमें यह एक बड़ा भारी दोष यह था कि राज्य-स्थापन के अनन्तर वह पहाड़ी इलाकों को चला जाता इससे सिक्ख शक्ति मज़बूत न होने पाई। जैसे एक म्यान में दो तलवारों का रहना असम्भव है वैसे ही एक पुरुष में दो प्रतिकूल शक्तियों का रहना असम्भव है। अतः बाहुबल से विजय प्राप्त कर लेने पर भी वैरागी राज्य-शक्ति अपने हाथ में रखना नहीं चाहता था। वह राज्य को दूसरों के हाथ में दे देता था। जिनको राज्य का भार सौंपा जाता वे इस योग्य न होते थे। यदि वैरागी वैराग्य-भावना को छोड़कर राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले लेता तो निश्चय ही पंजाब में हिन्दू राज्य की नींव पक्की हो जाती। पर वह तो मुग़लों से प्रान्त छीन कर उसका भार सिक्खों को सौंप कर स्वयं तपस्या करने चला जाता था। वैराग्य और राज्यशक्ति का परस्पर महान् विरोध है ये दोनों एक आश्रय में कैसे फल-फूल सकती हैं। यही कारण है कि बहादुर वैरागी

दोनों में से एक को भी चिरस्थायी न रख सका। यदि यह वीर अपने हृदय से वैराग्य की गन्ध को निकाल देता तो सम्भव है उसके साथ होने वाली अनहोनी घटना न हो पाती। राजनीति धर्म के अनुसार एक शासक को हर समय वैराग्य भाव ग्रहण किये रहना बड़ी भारी भूल है। उधर बहादुरशाह की मृत्यु के उपरान्त दिल्ली के अमीर परस्पर दलबन्दी करके अपने-अपने आदमियों को राजसिंहासन पर बैठा कर हत्याकाण्ड से रंगरलियाँ कर रहे थे। आखिर दो सैयद बन्धुओं की सहायता से फर्रुखसीयर बादशाह बना। इसी के राजत्वकाल में वीर वैरागी अमर गति को प्राप्त हुआ। यद्यपि यह स्वयं भोग-विलासों में फँसा रहता था, फिर भी इसने सिक्खों से मुसलमानों का पूरा बदला लिया। इसके राजसिंहासन पर बैठते ही मुसलमानों ने सिक्खों की शिकायतें करनी शुरू कर दीं। इसने सूबा लाहौर को सिक्खों के दमन करने का आदेश दिया। सूबा लाहौर सेना लेकर सरहिन्द पहुँचा और सिक्खों पर टूट पड़ा। परन्तु वैरागी ने ऐसी तलवार चलाई कि हार खाकर मुग़ल सेना तितर बितर हो गई। फर्रुखसीयर अब इस बात को समझ गया कि सूबा लाहौर वैरागी का दमन नहीं कर सकेगा। तब उसने मन्त्री-मण्डल से परामर्श लेकर चालाकी से काम लेना चाहा। उन दिनों दिल्ली में गुरु गोविन्दसिंह की दो स्त्रियाँ रहती थीं। बादशाह ने एक हिन्दू मन्त्री द्वारा उनको संदेशा भिजवाया कि वे वैरागी को समझा दें। वह व्यर्थ में ही प्रजा को पीड़ित कर रहा है। इस बात को

सुनकर गुरु जी की स्त्री "माता सुन्दरी" राज़ी हो गई। इस समय भाई मानसिंह और सदकीसिंह ने माता सुन्दरी को बहुत समझाया कि आप बादशाह की चालों में न आयें। पर स्त्री की हठ बहुत बुरी होती है। जहाँ स्त्री लोक-कल्याण की पवित्र मूर्ति समझी जाती है वहाँ हठ-धर्म का अवलम्बन कर विनाश-कारिणी भी हो सकती है। उसने वैरागी को पत्र लिखा—"तुम गुरु के सच्चे सिक्ख हो और तुमने पन्थ की बड़ी सेवा की है। तुम्हें बादशाह जागीर देना चाहता है। इसलिए तुम लूटमार बन्द करदो" पत्र को पढ़ते ही वैरागी आगबबूला हो गया और सभा बुलाकर उनके परामर्श से उत्तर लिख दिया। आपका मुझको ऐसा लिखना व्यर्थ है। मेरे ऊपर आपका कोई अधिकार नहीं है। गुरु के पुत्रों का बदला लेना था सो ले लिया। परन्तु मैं कभी भी मुसलमानों की आधीनता स्वीकार नहीं कर सकता। जिस काम में स्त्रियाँ हाथ डालती हैं वह कार्य कभी पूरा नहीं होता। प्रत्युत लाभ के स्थान में हानि उठानी पड़ती है। इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि राज्य-शासन के भार में स्त्रियों के हस्तक्षेप करने पर निश्चय ही विनाश का बोलबाला होता है। बादशाह ने जब देखा कि साम-नीति तो विफल रही। अतः अब भेद-नीति का सहारा लेना चाहिए? क्योंकि माता सुन्दरी के पत्र और उसके उत्तर का समाचार बादशाह सुन ही चुका था। उसने दोनों माताओं को अपने पक्ष में कर लिया तथा उनको बहका कर सिक्खों को यह पत्र लिखवाया कि आप में से यदि कोई गुरु गोविन्दसिंह का सिक्ख

है तो वह वैरागी का साथ न दे। इस आज्ञा-पत्र से सिक्ख पंथ में खलबली मच गई। अदूरदर्शी तथा अन्धविश्वासी सिक्ख वैरागी के विरुद्ध हो गये। आपसी फूट क्या नहीं करा देती। घरेलू फूट के कारण ही विदेशियों ने भारत में अपना अधिकार जमाया था। अन्त-र्विद्रोह तो अधिक मात्रा में जल ही उठा था अब केवल ज्वालामुखी फूटने की कसर थी।

आखिर संवत् १७७३ में अमृतसर में जब वैशाखी का मेला लगा तो सैकड़ों सिक्ख इकट्ठे हुए। वैरागी भी वहाँ बड़े ठाठ-बाट से आया। परन्तु विरोधी दल के बल पकड़ जाने के कारण यह दिन वैरागी के पतन का था। जन-समूह से आवाज़ आने लगी कि जो गुरु के सिक्ख हैं वह इसका साथ न दें। बस फिर उसी समय तत् खालसा नामक एक दल बन गया। फर्रुखसीयर की नीति सफल हुई। मूर्ख सिक्ख खुशियां मनाने लगे। पर वैरागी ने हिम्मत न हारी चाहे इने गिने सिक्ख तथा हिन्दुओं ने ही इसका साथ दिया। बादशाह ने दिल्ली से सेना भेजदी। वैरागी ने हिन्दुओं को इकट्ठा करके शाही सेना का सामना किया। वैरागी को अब की बार भी अभूत पूर्व विजय प्राप्त हुई। बादशाह के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वीर वैरागी के विरुद्ध जो सिक्खों का दल बन गया था वह अब मुसलमानों से मिलने लगे। इस समय की विजय से दिल्ली सम्राट घबरा गया और मंत्रियों की सलाह से उसने वैरागी के विरुद्ध खालसा सेना को अपने साथ मिला लिया। अदूरदर्शी सिक्खों के अन्दर वैरागी के प्रति प्रबल रूप से घृणा के भाव

जागृत हो चुके थे । सिक्खों और बादशाह फर्रुखसीयर में कुछ संधि की शर्तें भी तय हुई। जैसे—शाही राज्य में सिक्ख कभी लूट-मार नहीं करेंगे, कोई सिक्ख वैरागी का साथ न देगा इत्यादि। बादशाह की ओर से यह शर्त थी कि कोई बादशाह सिक्खों की जागीर न छीन सकेगा तथा किसी हिन्दू को ज़बरदस्ती मुसलमान न बनाया जायगा। वास्तव में मुग़लों की यह चाल ही थी। क्योंकि संधि के अनुसार मुग़ल सम्राट ने सिक्खों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। कुछ भी हो कूटनीतिज्ञ तुर्कों ने अपना स्वार्थ पूरा किया। दृढ़-निश्चयी वैरागीने यह सब समझकर भी "कि सिक्ख विरोधियोंसे जा मिले हैं" अपनी वीरतासे मुख न मोड़ा और उसने लाहौर पर आक्रमण करने की तय्यारी कर दी। गुरुदासपुर से जितने भी साथी मिले उन्हें साथ लेकर लाहौर के समीप आकर डट गया। वीर वैरागी के लिए यह समय बड़ा हानि-प्रद सिद्ध हुआ। वह तो मुसलिम शक्ति का सामना करना चाहता है। परन्तु उसके पद-पद पर काँटे बिछे हुए थे। लाहौर के सूबा की सहायता के लिये खालसा फौज भी आगई। मुसलमानी फौज से वीर वैरागी खूब लड़ा। पर खालसा फौज को सामने देखकर उसका दिल टूट गया। जिन वीर सिक्खों की सहायता से उसने सैकड़ों बार विजय प्राप्त की थी। आज उन्हीं के विरुद्ध तलवार उठाना उसके लिये बड़ा कठिन कार्य था। आखिर वैरागी हार गया और वापिस गुरुदासपुर चला गया।

चारों ओर अविश्वास का अन्धकार था। जिधर दृष्टि जाती उधर शत्रुओं का जमघट था। किन्तु इतने पर भी वैरागी ने उत्साह नहीं छोड़ा। उसने खालसा सेना को एक पत्र लिखा कि आप लोग तो शत्रुओं के धोखे में फँस गये हैं। अभी कुछ नहीं बिगड़ा सोचो, और विचार करो। आओ एकसाथ मिलकर शत्रु से बदला लें फिर आपस में भी लड़ लेंगे। इस प्रकार की चिट्ठी को पढ़कर भी खालसा लोग कुमार्ग से पीछे नहीं हटे। उधर वैरागी ने सोचा कि मैं राजपूत हूँ मैं अपने अकेले दम पर ही लड़ूँगा। इसके पश्चात् उसने कलानौर, स्यालकोट आदि प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। उत्तरोत्तर विजय प्राप्त कर लेने पर भी वैरागी को आत्म-बलिदान करने वाले वीर नहीं मिल सके। वैरागी की सफलता के समाचार सुन-सुनकर बादशाह को चैन नहीं पड़ता था। उसे यह पक्का विश्वास था कि यदि वैरागी जीता रहा तो कभी न कभी लाहौर पर वह अवश्य आक्रमण करेगा। इसलिए संवत् १७७६ में दिल्ली सम्राट् ने तीस हज़ार सेना वैरागी का वध करने के लिए भेज दी। गुरुदासपुर के चारों ओर घेरा पड़ गया। खाने-पीने का सामान मिलना बन्द हो गया। वैरागी के कुछ सैनिक खाद्य-सामग्री के लिये बाहर निकले। किन्तु शाही सेना ने उन्हें धराशायी कर दिया। जब वीर वैरागी के सारे सैनिक भूखों मरने लगे तो उसने सबको एकत्र कर एक बार फिर आक्रमण किया किन्तु आग में पतङ्ग की भाँति उनको मौत ही मिली।

महात्मा बंदा जिन सिक्ख सैनिकों को एकत्र करके लड़ते रहे

वे सिक्ख धर्म के अनुयायी न थे। उनका हिन्दू धर्म था और जाति भी हिन्दू थी। वीर वैरागी ने सिक्खों के अन्तिम गुरु गुरु-गोविन्दसिंह जी की प्रेरणा से शस्त्र धारण किया था। वह एक मात्र हिन्दू जाति की रक्षा करने के लिये उत्पन्न हुए। वे हिन्दुत्व के नाते सिक्खों की सहायता करते थे। यह सब उनकी वाणी से स्पष्ट होता है। जिस समय फर्रुखसियर ने भेद-नीति का अवलम्बन करके माता सुन्दरी को अपने पक्ष में मिला लिया और उससे एक पत्र सिक्खों को लिखवाया "कि बन्दा गुरु बनना चाहता है"। सिक्खों! तुम इस का साथ मत दो। माता सुन्दरी के पत्र को पढ़कर सिक्खों ने बन्दा से कहा—अमृत छक कर आप पंच ककार (केश, कंघी,, कृपाण, कड़ा, कच्छा) धारण कर लें नहीं तो हम आपका साथ छोड़ देंगे। यह सुन वीर वैरागी ने निर्भीक होकर उत्तर दिया—

"ऐ सिक्ख बहादुरो! वीरता में तुम भारत वर्ष में सबसे बढ़ कर हो, किन्तु जितनी तुम लोगों में वीरता है उतनी ही अदूरदर्शिता। तुम लोगों ने ही आनन्दपुर में अपने गुरु गोविन्दसिंह का साथ छोड़ दिया था। उस समय तुम लोग न तो गुरु-पुत्रों की रक्षा कर सके और न ही गुरु-पत्नी की। तुम लोगों ने अब तक किया ही क्या है? हाँ गुरु के साथ विश्वासघात करके अपने प्राण अवश्य बचाए हैं। मैं तुम्हारी भाँति गुरु का शिष्य नहीं बना। फिर भी गुरु के पुत्रों के हत्यारों का मैंने सर्वनाश कर दिया। मैं सिक्ख नहीं, हिन्दू हूँ और हिन्दू

होते हुए भी सिक्ख राज्य की स्थापना कर रहा हूँ। मैंने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये ही माला छोड़कर कृपाण हाथ में ली है। धर्म के लिये मैं जी रहा हूँ और धर्म के लिये ही मरूँगा। गुरु गोविन्दसिंह जी ने भी मुझे सिक्ख नहीं बनाया और तुम सिक्ख बना रहे हो। मैं पूछता हूँ क्या हिन्दू और सिक्ख एक ही जाति के नहीं। हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये गुरु नानकदेव और गुरु गोविन्दसिंह का जन्म हुआ। क्या तुम सिक्ख मत को हिन्दू जाति से पृथक् समझते हो? यदि तुम इस समय मेरा साथ छोड़ दोगे तो आज तक की सारी विजय धूल में मिल जायेगी और बाद में तुम्हें पछताना पड़ेगा।" ये थे वीर वैरागी के शब्द, इनसे पता चलता है कि बन्दा की हिन्दू धर्म पर कितनी अगाध श्रद्धा थी। यद्यपि अदूरदर्शी सिक्खों ने आखिर में उनका साथ छोड़ दिया। परन्तु वीरवैरागीने अपनी ओर से कोई ऐसी गलती नहीं की। वैरागी तो राजा बनकर भी वैरागी ही रहा। जिस प्रदेश को वह जीतता उसको किसी न किसी सिक्ख या हिन्दू के अधिकार में कर देता था। वह अपने पास कुछ भी नहीं रखता था। विजित प्रान्त दूसरों को सौंप कर स्वयं ईश्वर-भक्ति में लीन रहता था। यह इस वीर का प्रतिदिन का काम था। वीर वैरागी ईश्वर में आस्था रखता था और उस ईश्वर की प्राप्ति का साधन एक मात्र हिन्दू धर्म को समझता था। इसलिये हिन्दू धर्म के विरोधी मुसलमानों से वह अधिक चिढ़ता था। परन्तु अपने धर्म की रक्षा न कर सकने वाले हिन्दुओं को भी

वह बहुत बुरी तरह फटकारता था। एक समय की बात है कि वीर वैरागी अपने सुसराल मंडी राज्य से गुरुदासपुर की ओर आ रहा था। रास्ते में एक आदमी ने सूचना दी कि महाराज बकरीद का दिन है इसलिये मुसलमान एक गाय का वध करना चाहते हैं। महात्मा बन्दा ने गौ की रक्षा के लिए वहाँ सिक्खों को जो कि संख्या में एक हज़ार के क़रीब थे, भेज दिया और अपने आप स्वयं पेड़ के नीचे बैठा रहा। इधर मुसलमानों ने गाय का काम तमाम कर डाला था। बस गो-वध का समाचार पाना था कि वीर बन्दा की क्रोधाग्नि भड़क उठी। उसने गो-हत्या करने वाले समस्त ग्रामीणों को भस्म जलाने की आज्ञा दे दी। इतने में उस गाँव में रहने वाले हिन्दू आकर प्रार्थना करने लगे कि महाराज सारा गाँव जलाने से तो हम सारे हिन्दू भी जल कर मर जायेंगे? इस बात को सुनकर वीर बन्दा बोले—जो हिन्दू होकर गौ के प्राणों को नहीं बचा सकता वह हिन्दू कैसा। वह तो हिन्दू जाति के लिए एक प्रकार का कलंक है। चाहिए तो ऐसे कि जिस स्थान पर एक भी हिन्दू रहे उसके सामने गौ माता का वध कदापि न होने पाए। किन्तु मुझे आश्चर्य है कि तुम हज़ारों हिन्दुओं के होते हुए भी एक गौ के प्राण नहीं बचा सके। गौ माता की रक्षा के लिए तुम मर क्यों नहीं गये। कायरो! तुमने हिन्दू जाति को कलंकित कर दिया है। न्याय की तो यह आज्ञा है कि हत्या करने वाले और हत्या को देखने वाले दोनों को ही दण्ड देना चाहिये। इतना कह कर उन्होंने उस गाँव के

हिन्दू स्त्री और बच्चों को बाहर निकलवा कर समस्त नगर को फूँक डाला। इस काण्ड के बाद बन्दा बहादुर ने पंजाब के सारे प्रान्त में इस बात की घोषणा कर दी कि जिस गाँव में भी गो-वध होगा उसे जलाकर राख कर दिया जायगा। इस घोषणा का प्रभाव यह हुआ कि बन्दा के जीवन-काल में प्रायः गो-हत्या नहीं हुई।

वीर बन्दा हिन्दू धर्म की रक्षा करना अपना सर्व-प्रथम कर्तव्य समझता था। इसी कारण उस समय का यह सबसे बड़ा महा-पुरुष था जो जाति और धर्म के लिए जन्मा और मरा। किसी जाति के जीवित रहने का एक ही चिह्न है कि उसमें समय समय पर महा पुरुष जन्म लेते रहें। महापुरुषों का यही एक लक्षण है कि वे जाति में नवजीवन का संचार कर देते हैं। जिस जाति में चिरकाल तक कोई महापुरुष जन्म न ले, समझ लो कि वह अब मृतप्राय है। हिन्दू जाति का ही यह सौभाग्य है कि उसमें राम और कृष्ण जैसे महापुरुष जन्मे हैं। किन्तु ये महापुरुष आज से हज़ारों वर्ष पहिले अपनी कीर्ति अजर अमर कर चुके हैं। ईसवीय शताब्दी या विक्रमी संवत् प्रचलित होने के बाद राम कृष्ण जैसा शक्तिशाली महापुरुष तो कोई नहीं हुआ। फिर भी अनेकों ही ऐसे व्यक्ति हुए जिन्होंने हिन्दू सभ्यता और हिन्दू आदर्श को फिर ज्यों का त्यों स्थापित रखने का यत्न किया। इन जाति-रक्षकों में वीर बन्दा भी एक असाधारण व्यक्ति था। यह वीर अपने जीवन की प्रथम अवस्था में एक अद्वितीय शिकारी राजपूत था।

दूसरी अवस्था में तपस्या करने वाला सर्व-देश प्रसिद्ध वैरागी और तीसरी अवस्था में मुग़लों से टक्कर लेने वाला कुशल सेनापति और शासक तथा अन्तिम अवस्था में अत्यन्त भीषण आपदाओं का सामना करने वाला अमर शहीद। हिन्दुत्व की रक्षा के निमित्त उसने वैराग्य धर्म को छोड़ कर राजधर्म का अवलम्बन किया। निवृत्ति मार्ग का अर्थ अपने लिए मुक्ति या शान्ति प्राप्त करना है। संसार में बहुत से ऐसे मनुष्य विद्यमान हैं जो प्रवृत्ति मार्ग की अपेक्षा निवृत्ति मार्ग को अच्छा समझते हैं। किन्तु यदि समाज, देश, और जाति संकट में पड़े हों और वे किसी रक्षक की तलाश में हों तो श्रेष्ठ मनुष्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उस समय प्रवृत्ति मार्ग का अवलम्बन कर शरणार्थियों की रक्षा करे। व्यक्तिगत उन्नति को त्याग देवे। यदि जाति के लाखों करोड़ों मनुष्य विपत्ति के सागर में डूब रहे हों तो उस समय जो व्यक्तिगत उन्नति करता है वह जाति का सबसे बड़ा शत्रु है। स्वामी दयानन्द जी ने भी यही किया। वे यदि केवल अपनी उन्नति करना चाहते तो योग द्वारा परम पद की प्राप्ति कर सकते थे। परन्तु उन्होंने देखा कि जाति अंधेरे के गर्त में गिरी जा रही है। ईसाई धर्म का प्रचार बढ़ता जा रहा है। इसलिए वे केवल व्यक्तिगत स्वार्थ की ओर प्रवृत्त नहीं हुए। अपितु धर्म और जाति का उद्धार करने के लिये मैदान में कूद पड़े।

यही बात हमारे चरित्र-नायक वीर वैराग

कही जा सकती है। मुसलमानों ने जब] हिन्दुस्तान पर विजय प्राप्त कर ली तो विजेता मुसलमान अपने रीति-रिवाजों को हिन्दू जनता में प्रचलित करना चाहते थे। इनका आचार-विचार हिन्दू धर्म के विलकुल विपरीत था। यद्यपि मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं की अपेक्षा बहुत कम थी, फिर भी हिन्दुओं के मुकाविले पर मुसलमान अधिक वलवान थे। इसका विशेष कारण यही था कि मुसलमान लोग अपने नेता पर विश्वास अधिक करते थे तथा उसके आदेश को मानना अपना परम कर्तव्य समझते थे। इधर हिन्दुओं का न तो कोई धार्मिक नेता था और न कोई राजनैतिक गुरु, ऐसे समय में वीर वैरागी ने हिन्दू जनता का नेतृत्व किया। पहिले पहल तो वैरागी पर किसी को विश्वास न था। स्वयं सरहिन्द के नवाव ने भरी सभा में जिसमें सिक्खों की संख्या अधिक थी बड़े घमण्ड से कहा—तुम्हारे एक गुरु की तो यह दशा हो रही है कि वह मारा-मारा फिर रहा है। अब एक नया आया है उसकी भी ऐसी खवर ली जायगी कि वह कहीं का न रह जाय। नवाव ने वैरागी को शक्ति को ठीक तौर से नहीं पहचाना। वैरागी के अन्दर अद्भुत विद्युत्-शक्ति थी। थोड़ी सी सेना की सहायता से भी यह स्वयं अपने विषैले वाणों की ऐसी वर्षा करता कि शत्रु के छक्के छूट जाते। वैरागी जिधर जाता उसका सामना कोई नहीं कर सकता था। इतना सब कुछ होने पर भी अपने जीवन-काल में ही वैरागी का राज्य स्थिर न रहा। इसका मुख्य कारण यही था कि वार

वार विजय प्राप्त कर लेने पर भी इसके हृदय से वैराग्य-भाव पूर्ण रूप से नहीं निकलने पाया था। यह विजित प्रान्तों को ऐसे लोगोंके सुपुर्द करता था जो इस कार्य के योग्य ही न होते थे। यदि शासन की बागडोर वैरागी अपने हाथ में रखता तो सम्भव था कि पंजाब में एक-छत्र हिन्दू राज्य कई वर्षों तक स्थिर रहता। जब इसे कोई आक्रमण का भय न रहता तो यह पहाड़ों की ओर भजन करने के लिए चला जाता। युद्ध का समय इन्द्रिय-दमन का नहीं होता। इसलिये युद्ध से निवृत्त होकर भक्ति के प्रभाव से उद्वेलित होकर इन्द्रिय-दमन के लिए वे एकान्त स्थल में बैठ जाता। वास्तव में वीर वैरागी सन्यास और कर्म-योग दोनों का अवलम्बन किये हुए था। युद्ध के समय धर्म के लिए लड़ना दूसरे के प्राण ले लेना या अपने प्राण दे देना ही कर्म-योग है और यही सन्यास है। यद्यपि परिभाषा तथा स्वरूप से सन्यास और कर्मयोग दोनों ही भिन्न २ हैं, परन्तु लक्ष्य दोनों का एक ही है। सन्यास का साधारण अर्थ त्याग है—अतः डूबते हुए देश और जाति के लिए प्राण दे देना सबसे बड़ा त्याग है। इस उद्देश्य को लेकर जो मनुष्य कर्म-मार्ग में प्रवृत्त होता है, जाति का पथ-प्रदर्शक बनता है उसे हम पूर्ण कर्म-योगी कहेंगे। वीर वैरागी अपने समय में तूफान की भाँति आया और विरोधी बादलों को नष्ट-भ्रष्ट करके सदा के लिये अपनी कीर्ति अजर अमर कर गया। इसके समरस्थल में उतरने पर हिन्दुओं ने समझा कि इनको बचाने के

लिए ईश्वर स्वयं वैरागी के रूप में अवतरित हुआ है। यह अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना करेगा। यही कारण है कि सिक्खों के अतिरिक्त सैकड़ों हिन्दू नवयुवक अन्तिम समय तक वैरागी का साथ देते रहे। वह लूट मार का ज़माना था। अनेकों दल पहाड़ी कन्दराओं में छिपे रहते और आस पास के गाँवों से लूट मार कर अपनी आजीविका करते। जब वैरागी ने अपने सिपा-हियों को स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि लूट का माल लुटेरों का अपना होगा, तो सारे का सारा लुटेरों का दल उसकी सेना में सम्मिलित हो गया। यद्यपि वीर वैरागी का उद्देश्य लूट मार करना न था। किन्तु यदि वैरागी लूटेरों को अपना न बनाता तो उसके पास और कोई चारा ही न था कि एक विशाल सेना का संगठन कर सके। यदि लूट का माल वैरागी स्वयं ही अपने आधीन रखता तो सम्भव था कि उसके सिपाही इतनी वीरता से शत्रु का सामना न करते। सैनिकों के हृदय में एक ही धारणा थी कि हम अपने वास्ते लड़ रहे हैं। इधर सैनिकों के मनोरथ पूरे हो रहे थे तो उधर हिन्दू धर्म की रक्षा तथा गुरुगोविन्द की आज्ञा का पालन हो रहा था। इस प्रकार बिना पैसे के, बिना किसी की सहायता के अपनी प्रतिभा और दूरदर्शिता के कारण वीर बहादुर अपने कार्य में सर्वथा सफल हुआ। इतना और स्पष्ट कर देना हम अनुचित नहीं समझते कि वैरागी के सभी साथी लुटेरे न थे। कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जो निःस्वार्थ भाव से वीर बहादुर का

साथ देते थे। वैरागी की भाँति कई हिन्दू तथा सिक्खों की यह निःस्वार्थ भावना थी कि वे हिन्दू जाति के रक्षक की सहायता करें। ऐसी निःस्वार्थ भावना वाले कतिपय हिन्दू तथा सिक्ख सिपाही अन्तिम समय तक अर्थात् फर्रुखसियर द्वारा किये गये हत्याकाण्ड तक वैरागी का साथ देते रहे। वीर वहादुर अपने घोड़े पर सवार होकर एक मात्र धनुष का सहारा लिए दुश्मनों का सामना करता था। वादशाही सेना के साथ तोपें भी थीं परन्तु इस वहादुर ने आग उगलने वाली उन तोपों का जवाव अपने वाणों से दिया। युद्ध समय धनुष-वाण चलाने में उसका हस्त-कौशल देखने योग्य होता था। पञ्जाव के इतिहास-लेखक मुहम्मद लतीफ ने अपनी पुस्तक 'पञ्जाव के इतिहास' में वैरागी के विषय में इस प्रकार लिखा है कि इसने सहस्रों मुसलमानों का वध किया. मस्जिदें और खानकाहें मिट्टी में मिला दीं। घरों में आग लगादी और स्त्रियों तथा वच्चों तक की हत्या कर डाली। लुधियाना से लेकर सरहिंद तक समस्त प्रदेश सफ़ा कर दिया। पहिले पहल इसने सरहिंद पर चढ़ाई कर गुरु गोविन्द-सिंह के वच्चों के प्रतिकार रूप में सारे नगर को आग लगा दी। वालक या स्त्रियों का कोई विचार न रखते हुए सव नगर-वासियों को क़त्ल कर डाला। मृतकों को कवरों से निकाल कर चीलों और कव्वों को खिलाया। सारांश यह कि जहाँ कहीं यह गया तलवार से ही काम किया। इसी कारण मुसलमान इसे साक्षात् यम-राज कहने लगे। सचमुच ही इससे पूर्व कोई हिन्दू राजा. लड़ाकू

या लुटेरा ऐसी सख्ती से काम लेने वाला नहीं हुआ। यद्यपि हिन्दू वीरों ने अपने शत्रुओं से बदला तो कई बार लिया, किन्तु वैरागी का प्रतिकार लेने का ढंग अन्य हिन्दुओं की अपेक्षा कठोर था। इस सख्ती का कारण यही था कि जिन लोगों से वैरागी की टक्कर हुई उनका भी तो हिन्दुओं के प्रति बहुत बुरा बर्ताव था। उन्होंने गुरु तेग़बहादुर जैसे वृद्ध पुरुष की हत्या की। गुरु गोविन्द के छोटे २ बालक जीते जी दीवार में चिनवा दिये। बालक हक़ीक़त-राय का मामला अपने सहपाठियों के साथ झगड़ने से चरम सीमा तक पहुँचा दिया। काज़ियों ने हक़ीक़त को मुसलमान न बनने पर क़त्ल करा दिया। हिन्दुओं की कुछ परवाह न की। इस दृष्टि से यदि वैरागी ने मुसलमानों के साथ कठोरता की तो कौनसे आश्चर्य की बात है। स्वयं वैरागी के साथ फर्रुखसियर ने क्या कम कठोरता की।

वैरागी यद्यपि साधु था, पर ऐसा वीर नेता भारतवर्ष में पहिले कभी नहीं हुआ। इस थोड़े से समय में जहां कहीं युद्ध होता रहा उसमें प्रायः वैरागी के व्यक्तिगत वीरता के कारण ही विजय होती रही। ज्यों ही थोड़े समय के लिए वह अनुपस्थित होता मुसलमान फिर उठ खड़े होते और सिक्ख इधर उधर भागे२ फिरते। जब वह युद्धकी कमान फिर अपने हाथमें लेता तो अवस्था सुधर जाती। इसमें सबसे बड़ी विशेषता एक यह भी थी कि इतनी विजय प्राप्त कर लेने पर भी उसने अपना साधु-वेष नहीं छोड़ा।

आवश्यकता पड़ने पर ही वह युद्ध-क्षेत्र में उतरता, अन्यथा ईश्वर-भक्ति में लीन रहता था। इस संसार में वह कमल-पत्र के समान निर्लेप रहा। विधर्मी वीर सैनिकों को जीतने में सफलता प्राप्त करने के लिये सबसे बड़ी बात उसमें यह थी कि उसने अपने जप-तप से समस्त इन्द्रियों तथा अपने मन को भी वश में कर रखा था।

शान्त और वीर रस की विरोधी पद्धतियों पर चलता हुआ भी यह बहादुर दोनों में अपूर्व सफलता प्राप्त कर गया यह उसकी अलौकिकता ही तो है।

धर्म-वीर हकीकतराय

वैदिक काल से लेकर आजतक के भारतीय इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालने से पता चलता है कि इस धर्म-प्रधान देश भारतवर्ष में कई ऐसी महान् आत्माएँ हो चुकी हैं जिन्होंने धर्म की रक्षा के लिए अपने प्राण तक भी न्योंछावर कर दिये हैं। मनु ने धर्म के दश लक्षण किये हैं। उन सब में से कोई किसी अंश का पालक हुआ तो कोई अन्य का। जिस प्रकार सत्य धर्म के पालक हरिश्चन्द्र, दान तथा धर्म के बलि, कर्ण और शरणागत-रक्षक महाराज शिवि आदि हुए हैं, उसी प्रकार देश तथा जाति के परिपालक शिवा, महाराणा प्रताप आदि अपने नाम को अजर अमर कर चुके हैं। वैसे ही हिन्दु धर्म की मर्यादा पर मर मिटने वाले वीर हकीकतराय का नाम हम कभी नहीं भूल सकते। अपनी जाति तथा अपना धर्म किसको प्यारा नहीं, किन्तु उसकी मर्यादा पर मर मिटने वाला लाखों में से कोई एक ही होता है। इस नश्वर शरीर से लाभ ही क्या यदि वह किसी अच्छे कार्य में काम न आये। फिर हकीकतराय की विशेषता इस बात में है कि वह अभी बालक है पाठशाला में पहिली या दूसरी श्रेणी में पढ़ता है। जब उसके पूज्य देवी देवताओं को मुसलमान छात्रों द्वारा अपमानित किया जाता है तो इसकी धार्मिक भावनाएँ उत्तेजित हो उठती हैं। वह उनके द्वारा किये गये अपमान को सहन नहीं कर सकता और चुप-चाप न बैठ कर ईंट का उत्तर पत्थर से देता है। क्या वह महान् आत्मा का लक्षण नहीं? उस वीर बालक के भीतर सामान्य प्राणियों की अपेक्षा एक अलौकिक शक्ति झांक रही थी। नीति का वाक्य है कि—

"नहि तेजस्विनां वय: समीक्ष्यते" अर्थात् तेजस्वी पुरुषों की अवस्था नहीं देखी जाती। गुरुगोविन्द जी ने नौ वर्ष की अवस्था में अपने पिता तेगबहादुर जी से कहा था कि—"पिता जी ! हिन्दू धर्म की रक्षा के निमित्त यदि आपको आत्मबलिदान भी करना पड़े तो कोई हानि नहीं"। अन्त में वही हुआ। बालक के अदम्य उत्साह को देखकर गुरु तेगबहादुर मुग़ल सम्राट् औरङ्गज़ेब के हाथों धर्म पर बलिदान हो गये। गुरुगोविन्द जैसे अद्वितीय धर्मवीर थे वैसे ही उनके नौनिहाल बालक भी हँसते-हँसते धर्म पर शहीद हो गये। इन वीर पुरुषों के हृदय में देश जाति और धर्म की सच्ची लगन थी। गीता में भगवान् कृष्णचन्द्र युद्धसे विमुख हुए अर्जुन को ललकारकर सावधान करते हैं—"स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:" अर्थात् अपने धर्म पर मर-मिट जाना भी सर्वोत्तम है, किन्तु भयदायक दूसरे के धर्म को स्वीकार करना अच्छा नहीं।

धर्मवीर हकीकतराय के पिता का नाम लाला भागमल था। ये स्यालकोट के बड़े प्रतिष्ठित व्यापारी थे। परन्तु कई लोगों के मत में ये कोई प्रतिष्ठित सरकारी नौकरी करते थे। सारे स्यालकोट में इनकी ख्याति थी। सर्वगुणसम्पन्ना इनकी एक पतिव्रता स्त्री थी, जिसका नाम कौरां था। इसी कौरां के गर्भ से वि० सं० १८०२ में वीर हकीकतराय का जन्म हुआ। धनी माता-पिता का यह इकलौता बेटा था। इसलिए इसके लाड़-प्यार में उन्होंने कोई कसर न छोड़ी। अभी बालक हकीकत की शिक्षा प्रारम्भ ही हुई थी कि माता पिता ने एक प्रतिष्ठित सिख परिवार में इसका विवाह कर दिया। पुत्रवधू का नाम लक्ष्मी था। लक्ष्मी अपने नाम के अनुसार सचमुच ही लक्ष्मी थी। पुत्रवधू के

आगमन पर लाला जी अत्यधिक प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी धर्मपत्नी कौरां के साथ आनन्द-मग्न होकर दीन-अनाथों में प्रचुर अन्न-वस्त्र और धन बांटा। इस प्रकार बड़ी खुशी के साथ बालक हकीकत का विवाह संस्कार समाप्त हुआ। भागमल और माता कौरां पुत्र और पुत्रवधू का मुख देखकर अपने आपको बहुत ही धन्य मान रहे थे कि अचानक इस आनन्द-सागर की परिधि दुःख के क्षितिज पर समाप्त हो गई। बालक हकीकतराय ने धर्म पर बलिदान होकर अपने नाम के साथ माता-पिता के नाम को भी अजर अमर कर दिया। परन्तु भाग्यवश भागमल और कौरां को जीवन पर्यन्त पुत्र-वियोग का असह्य दुःख सहना पड़ा।

वास्तव में बात यह थी कि जिस पाठशाला में हकीकतराय को शिक्षा दिलाने के लिये प्रविष्ट किया गया उसमें अधिकतर मुसलमान लड़के ही पढ़ते थे। शिक्षक भी मुसलमान मौलवी था। उन दिनों उत्तर-पश्चिम भारत में मुगलों का राज्य था। मुसलमान शासक मनमाने अत्याचार हिन्दुओं पर करते थे। आगे न्यायालयों में भी उनकी ही सुनवाई होती थी। इसलिए उन लोगों का उत्साह बढ़ा हुआ था। बालक हकीकत पढ़ने-लिखनेमें बहुत चतुर था। इसका जन्म एक आदर्श हिन्दू परिवार में होने के कारण वह पाठशाला में बड़ी शांतिसे रहता। किसीसे लड़ाई दंगा नहीं करता तथा अपने अध्यापक की आज्ञा का हृदय से पालन करता था। मुल्ला साहब भी इस पर अत्यधिक प्रसन्न थे ईर्ष्यालु मुसलमान छात्र हकीकत को देख कर मन ही मन में जला करते थे। एक दिन मौलवी साहब बाहर चले गये और पाठशाला के छात्र आपस में झगड़ने लगे। केवल हकीकतराय ही शान्त-चित्त होकर अपनी पुस्तक पढ़ रहा था। उसको इस प्रकार पढ़ते हुए देख ईर्ष्यालु मुसलमान छात्रों ने

आपस में सलाह की कि यह काफ़िर हकीकतराय दिन भर पढ़ता रहता है। हमारी श्रेणी में सबसे प्रथम रहता है और इसी कारण हमारे ऊपर मुल्ला साहब भी नाराज़ रहते हैं। यदि किसी प्रकार से इसको यहाँ से निकलवाया जाय तभी अच्छा हो! आखिर सबने एकमत होकर हकीकत को छेड़ना आरम्भ कर दिया। पहिले उन्होंने उसको खेलने के लिए कहा, किन्तु अनसुना वह पढ़ने में ही लगा रहा। मुसलमान लड़के और हकीकत अपनी हठ पर अड़े रहे। अन्त में दोनों ओर से गाली-गलौच शुरू हुई।

अब्दुल्ला नामक एक मुसलमान लड़का हकीकत को घसीटने लगा। अन्य लड़कों ने भी उसका साथ दिया। धर्म-धुरीण हकीकत के मुख से निकल पड़ा कि 'दुर्गा माता की कसम' मैं आज नहीं खेलूंगा। मुझे छोड़ दो। यह सुनकर एक लड़का बोल पड़ा— ऐसी तैसी तेरी दुर्गा माता की। वीर हकीकत ने उनकी तरह अपने मुख से अपशब्द न निकाल कर चेतावनी दी—'देखना, ज़रा ज़बान सम्भाल कर बोलना। यदि मेरी दुर्गा भवानी को अपशब्द कहोगे तो ठीक न होगा। मैं भी तुम्हारी रसूल ज़ादी फ़ातमा को अपशब्द कहूँगा। कितने अच्छे विचार थे उस बालक के, जो कि अपने साथियों की गालियों को ज़हर के घूँट की तरह पी जाता है और आगे के लिए उनको सावधान करता है। यदि झगड़ा जान-बूझ कर किया जाय तो उसको कौन रोक सकता है। आखिर फिर उन्होंने देवी दुर्गा को बहुत बुरी २ गालियां दीं तो हकीकत से भी चुप न रहा गया। उसने भी रसूल ज़ादी फ़ातमा को वैसी ही गालियां दीं। सौ कौवों के बीच में एक हंस की क्या चल सकती है। सब लड़कों ने उस अकेले

हक़ीक़त को बहुत पीटा। थोड़ी देर के बाद जब मुल्ला साहब आये सब वातावरण शान्त हो गया। उन्होंने लड़कों को डाँट कर पूछा क्यों रे क्या बात है?—

सब लड़कों ने मिलकर कहा—यह शरारती हकीकत रसूलज़ादी को गाली देता है। प्रत्येक जाति अपने-अपने देवताओं की इज़्ज़त करती है। मुसलमान जाति रसूलज़ादी को अधिक आदर के साथ पूजती है। मुल्ला साहब ने जब उसका नाम सुना तो वे भी हक़ीक़त पर खूब बिगड़े। गुस्से से तमतमाए हुए वे पूछने लगे—क्यों रे हक़ीक़त क्या यह बात सच है? हकीकतराय ने विनीत भाव से कहा कि—मुल्ला साहब पहिले इन्होंने ही हमारी भवानी को हरामज़ादी कहा तो मैंने भी कह दिया कि यदि तुम मेरी भवानी को हरामज़ादी कहते हो तो मैं भी तुम्हारी रसूलज़ादी फातमा को हरामज़ादी कहता हूँ। मुल्ला ने फिर लड़कों से प्रश्न किया, किन्तु उन्होंने हक़ीक़त को सरासर झूठा सिद्ध कर दिया। समुदाय बलवान होता है। फिर अन्ध-विश्वासी मुसलमानों में इतनी दूरदर्शिता कहाँ जो सत्य का निर्णय कर सकें। वे लोग तो इस्लाम धर्म के सामने संसार भर के सारे धर्मों को तुच्छ समझते थे। लड़कों के कहने पर मुल्ला ने हक़ीक़तराय को सुलेमान काज़ी के सामने पेश कर दिया। काज़ी साहब मुल्ला से भी बढ़ कर निकले। क्योंकि वह तो अपने आपको इस्लाम धर्म का ठेकेदार ही समझते थे। काज़ी साहब ने कचहरी बुलाई। सब कर्मचारी मुसलमान अपने २ स्थान पर बैठ गये। तब काज़ी साहब ने हक़ीक़तराय, मुल्ला और पाठशाला के सभी छात्रों को बुलाया। मुल्ला और लड़कों ने हक़ीक़त के विरुद्ध कई बातें कहीं, रसूलज़ादी के अपमान का दोष लगा।

काज़ी आपे से बाहर होकर हक़ीक़त को डाँटने लगे। मुल्ला ने सिर झुका कर कहा कि हज़ूर मेरे मदरिस्से में कोई झूठ नहीं बोलता और यदि कोई बोले तो उसको आपके सामने ला खड़ा कर देता हूँ। काज़ी ने मुल्ला की बढ़ाई करते हुए कहा बिल्कुल ठीक है। मुल्ला साहब मुझे आप से यही उम्मीद है। नेक आदमी ऐसे ही होते हैं। मुझे पूरा यक़ीन है कि इस बदमाश ने अवश्य ही हमारी रसूलज़ादी की बेइज्ज़ती की होगी। मैं इसको अवश्य दण्ड दूँगा। हक़ीक़त राय ने प्रार्थना की कि मेरी भी बात सुन ली जाय, किन्तु वहाँ तो अपना राज्य था और हिन्दु धर्म को मिटाने का एक मात्र बहाना था। अन्यायी काज़ी ने आज्ञा दे दी कि इसे क़ैद कर लो। बस आज्ञा की देरी थी पल भर में असहाय बालक को हथकड़ियां पहना कर कारागार में डाल दिया। उस समय हक़ीक़त ने जो वचन कहे उसको बड़े २ ज्ञानी भी नहीं कह सकते। इस वीर बालक की आत्मा बड़ी पवित्र थी। वह कहता है—

फ़क़त है फ़र्क़ लफ्ज़ों का असलियत एक है लेकिन।
महादेव हिन्दुओं का जो वही अल्ला अकबर है॥
मुबारिक़ आप को हो मुहब्बत दीन अपने की।
मुझे अपना धर्म प्यारा जान अपनी से बढ़कर है॥
मदीना क़ाबा काशी है और काशी मदीना भी।
न वह स्थान ईश्वर का न वह अल्लाह का घर है॥
यहाँ पत्थर वहाँ पत्थर न पत्थर से बचे तुम भी।
वहाँ पर संगे असवद है यहाँ पर संगेमरमर है॥

इस खुदा और ईश्वर की एकता के वर्णन से काज़ी साहब को प्रसन्न होना चाहिए था, परन्तु हुआ इसके विपरीत।

इधर घर में माता कौरां और भागमल हक़ीक़त की बाट देख रहे थे। कौरां ने कहा आज बड़ी देर हो गई। हक़ीक़त अभी तक घर नहीं लौटा। भागमल भी पुत्र को देखने के लिए उत्सुक हो रहा था, स्त्री को क्या उत्तर दे सकता। इतने में स्यालकोट के धनी चांदमल के लड़के ने 'जो कि हक़ीक़त का सहपाठी था' आकर सूचना दी कि रसूल ज़ादी फ़ातमा को गाली देने के कारण काज़ी ने हक़ीक़त को क़ैद कर लिया है। प्राण-प्रिय पुत्र के क़ैद होने का समाचार सुन कौरां पछाड़ खाकर भूमि पर गिर पड़ी। भागमल भी सोच में पड़ गया। उसको विश्वास हो गया कि इस अन्यायी रियासत में अब पुत्र का सहसा छूटना कठिन है। फिर भी उसने पुत्र को मुक्त कराने का यत्न किया। सारे घर में शोक छा गया। हक़ीक़त की स्त्री लक्ष्मी भी अपने पति के छूट जाने के लिए पार्वती जी की पूजा करने लगी। इधर क़ैद में पड़े वीर बालक को तरह तरह के कष्ट दिये गये। उसको विवश किया गया कि वह इस्लाम धर्म को ग्रहण कर ले; परन्तु अदम्य उत्साही बालक ने कहा कि चाहे प्राण चले ही जांय पर मैं अपने धर्म को नहीं छोड़ूंगा। मुल्ला और अन्य गवाहों ने जब हक़ीक़त को झूठा साबित कर दिया तो उसने कहा—यदि मैं झूठा हूँ और आपके गवाह सच्चे हैं तो—

"परवाह नहीं धर्म पर बलिदान हो जाऊँ।
चिन्ता नहीं यदि माता के शुभ स्तन खाऊँ॥

अन्त में क़ाज़ी ने ज़बर्दस्ती हक़ीक़त के मुख से अपने आप को दोषी कहलवा दिया। साथ ही यह भी निर्णय सुना दिया कि इस्लाम की तौहीन करने वाले को मौत की सज़ा ही मिलनी चाहिए। हाँ यदि वह अपने धर्म को छोड़ कर इस्लाम धर्म को स्वीकार

कर लें तो जीवित रह सकता है अन्यथा नहीं। काज़ी ने एक बार फिर हक़ीक़त से पूछा—क्यों हक़ीक़त? तुझे इस्लाम धर्म स्वीकार है? उसने उत्तर दिया—नहीं नहीं, कदापि नहीं, मैं हिन्दू हूँ। सच्चा हिन्दू हूँ। मैं मानता हूँ कि खुदा और ईश्वर एक हैं, पर यदि तुम खुदा को अलग समझते हो तो मैं भी ईश्वर को खुदा से अलग मानता हूँ। तुम लोग खुदा-परस्त बनकर हिन्दुओं से घृणा करते हो तो मैं भी तुम लोगों से उसी प्रकार घृणा करता हूँ।

हक़ीक़त की बातों को सुनकर काज़ी जल-भुन सा गया और उसने उसे मृत्यु-दण्ड सुना दिया। न्यायालय में बैठे हुए लाला भागमल ने काज़ी साहब के पाँव पकड़ लिये। पिता ने पुत्र की प्राण-रक्षा के लिये क्षमा याचना की। काज़ी अपनी ज़िद पर अड़ा रहा, यदि यह इस्लाम धर्म स्वीकार करले तो इसकी प्राण-रक्षा हो सकेगी अन्यथा नहीं। पुत्र-वात्सल्य के कारण माता पिता ने हक़ीक़त राय को समझाया कि इस्लाम धर्म स्वीकार कर ले, तुम्हारे प्राण बच जायेंगे। वीर बालक ने अपने माता-पिता को भी समझाया कि धर्म के लिये बलिदान होना मेरे लिए यह एक सुनहरा अवसर है।

अमर है आत्मा मेरी नहीं मरती किसी से,
स्वयं पछतायेंगे इकदिन इन्हें अन्याय करने दो।

अन्याय का नाम सुन कर काज़ी ने कहा कि मुझे गुस्सा तो इतना आता है कि तेरी ज़बान निकलवा दूँ, परन्तु इन बूढ़ों पर तरस खाकर तेरी इस बद ज़बानी और बदगुमानी पर चुप रह जाता हूँ। नहीं तो हाथी के पाँव-तले तुझे कुचलवा दूँ, ईंटों में चिनवा दूँ, आँखें निकलवा दूँ। वीर हक़ीक़त ने भी तड़क

कर कहा—आँखें निकलवा लो, दीवार में चिनवा लो, जो चाहें करो पर तुम्हारा इस्लाम भी बेगुनाहों को दण्ड देना नहीं सिखलाता। याद रखो तुम जिसे धर्म समझते हो वह ठीक है पर जिसे तुम धर्म के नाम पर, अपना कर्म और फर्ज़ समझते हो उसमें तुम्हारी बड़ी भारी भूल है।

आखिर काज़ी साहब झुँझला कर उठ खड़े हुए और बोले मैं इसका निर्णय नहीं कर सकता। अमीर की कचहरी में इसका निर्णय होगा। इसको वहीं ले जाओ। अब अमीर की कचहरी में मुकदमा चलेगा। इसलिये हकीकत को फिर जेल में डाल दिया गया। उधर भागमल और माता कौरां रोते-पीटते घर की ओर चल दिये। चारों ओर मुसलमानों का आतङ्क छा रहा था। किसी भी हिन्दू ने उसका साथ न दिया। कई शताब्दियों से मुग़लों के आक्रमणों ने हिन्दुओं को अशक्त कर दिया था। वे लोग निहत्थे हो चुके थे। फिर मुसलमान शासक शासनके सुव्यवस्थित हो जाने पर मनमाना अत्याचार करते थे। उनके विरुद्ध आवाज़ उठाना प्राणों से हाथ धोना था। इस प्रकार कई दिन बीत गये और शहर के बड़े अधिकारी मिर्ज़ा अमीरबेग की कचहरी की तारीख आ पहुँची। कचहरी में छोटे बड़े अधिकारियों के अतिरिक्त काज़ी और मुल्ला साहब भी उपस्थित थे। अभियुक्त हकीकत बन्दी के रूप में खड़ा था। अमीर साहब ने सबके बयान लिए। काज़ी और मुल्ला ने अपनी पिछली बातें दुहराईं। हकीकत ने अपने आपको निर्दोष ठह-राया। अमीर ने निष्पक्ष होकर निर्णय किया कि बालकों के आपसी झगड़े में इस्लाम धर्म क्यों दखल दे। इन्होंने उसकी देवी को गालियां दीं तो उसने इनकी रसूलज़ादी को भी वैसा ही कहा। यदि कानून लागू होता है तो दोनों पक्षों पर, नहीं तो कोई भी अपराधी नहीं। इसलिए

ने इस्लाम धर्म के अनुसार जो निर्णय किया ठीक वही प्रशंसा के योग्य था। होनहार बात को कोई नहीं टाल सकता। धर्म के नाम पर हकीकत का बलिदान होना था, इसलिए अमीर के निर्णय पर मुसलमानों ने विशेष-कर क़ाज़ी ने आक्षेप किया। क़ाज़ी ने अमीर से कहा कि यदि हकीकत को मौत की सज़ा नहीं देनी तो यह इस्लाम को स्वीकार करले। अमीर पर इन शब्दों का गहरा प्रभाव पड़ा। उसने हकीकत को बहुत सा प्रलोभन दिया, यहां तक कि अपनी लड़की से शादी कर देने को कहा; परन्तु हकीकत अपने धर्म पर स्थिर रहा। संसार में सबसे प्रिय वस्तु अपना जीवन है, परन्तु जो जीवन की भी परवाह न करे उसको सांसारिक प्रलोभनों से क्या। आखिर अमीरबेग ने कहा कि मेरी कचहरी से हकीकत राय निर्दोष सिद्ध हुआ, परन्तु अब इसका अन्तिम निर्णय लाहौर के नाज़िम साहब के न्यायालय में ही होगा।

लाहौर के न्यायालय की तिथि निर्धारित की गई। दोनों पक्षों के लोग लाहौर पहुँच गये। बेचारा भागमल तथा कौरां भी तन, मन, धन से अपने प्राण-प्रिय पुत्र को बचाने का प्रयत्न करने के लिए लाहौर की ओर चल पड़े। पुत्र-वधू लक्ष्मी को उसके पिता के घर भिजवा दिया, जिससे उसे मार्ग में कठिनाईयों का सामना न करना पड़े! ईश्वर की लीला का कुछ पता नहीं चलता। पतिव्रता लक्ष्मी पूज्य सास-ससुर की आज्ञा से पिता के घर जा रही थी कि रास्ते में उसको अपना प्राणप्रिय पति दिखाई दिया जोकि एक मुग़ल सिपाही के साथ बन्दी के रूप में जा रहा था। सिपाही उदार हृदय सज्जन था, उसने हकीकत की सचाई और वीरता पर मुग्ध होकर उसको अपनी पत्नी से मिलने की आज्ञा दे दी। मिलने के अनन्तर सिपाही ने कहा कि ऐ नेक लड़के! मैं जानता हूँ

कि तू अपराधी नहीं। इस्लाम को वदनाम करने वाला काज़ी ही तेरी मृत्यु का कारण वना हुआ है। यदि तुम चाहो तो इसी जंगल में कहीं जाकर छिप जाओ। मैं काज़ी से अपने आप निपट लूँगा। हक़ीक़त राय ने हँसते हुए कहा—नहीं, नहीं ? मेरे प्यारे भाई ? तेरी दया का मैं आभारी हूँ; पर मैं यहां से भाग कर अपने और तेरे माथे पर कलंक का टीका किसी तरह न लगने दूँगा। कुछ दिन बाद अभियुक्त हकीकत राय लाहौर पहुँचाया गया। छोटे २ न्यायालयों की फाइलें तथा अधिकारियों की सम्मतियां नाज़िम साहब के सामने सिरिस्तेदार ने पढ़कर सुनाईं। इस्लाम-धर्म का अन्धविश्वासी काज़ी तथा मुल्ला दोनों यहां भी उपस्थित थे। अमीरबेग का निर्णय हक़ीक़त राय के पक्ष में था। नाज़िम ने सिरिस्तेदार को अमीरबेग का निर्णय सुनाने का संकेत किया। उसने आज्ञा पालन करते हुए कहा—हज़ूर ! वे लिखते हैं—"मुलज़िम हकीकतराय वल्द भागमल वाशिंदा स्यालकोट जबकि मुलज़िम हकीकतराय स्कूल में पढ़ रहा था तो कुछ मुसलमान लड़कों ने उसे खेलने के लिए कहा, इसपर मुलज़िम ने भवानी की कसम खाकर खेलने से इनकार किया तो मुलज़िम को मुसलमान लड़कों ने मारा और उसकी पूज्या देवी को हरामज़ादी कहा। इसपर मुलज़िम ने रसूलज़ादी फातमा को भी बुरा-भला कहा। यह मामला साधारण है। अपराधी दोनों ओर से हैं। मुसलमान लड़कों ने हिन्दू धर्म का अपमान किया और हिन्दू लड़के ने इस्लाम धर्म का। नियमानुसार दोनों ही अपराधी हैं अथवा निरपराधी। यदि कोई दण्ड दिया जाय तो साधारण सा न कि मृत्यु-दण्ड। इसपर कोई मज़हबी नियम दर्मियान में लाना ठीक नहीं। इसलिए मेरी राय में अभियुक्त को रिहा कर

दिया जाय।"

मिर्ज़ा अमीर का निर्णय सचमुच पक्षपात-रहित था। नाज़िम साहब ने भी इसकी प्रशंसा की और कहा कि हाकिम साहब ने जो बात लिखी है वही ठीक है। मामला कोई संगीन नहीं, इसलिए मेरी राय में भी यह अभियोग यहीं समाप्त कर दिया जाय।

इस्लाम धर्म के कट्टर पक्षपाती काज़ी ने इसका विरोध करते हुए कहा—नहीं हज़ूर इस्लाम का राज्य होते हुए इस्लाम की बेइज़्ज़ती करना सबसे बड़ा गुनाह है। या तो यह अपने धर्म को छोड़ कर मुसलमान बन जाय, नहीं तो मौत की सज़ा भोगे। नाज़िम ने काज़ी को बहुत समझाया, किन्तु उसने सारे मुसलमानों को भड़का दिया। सबने इस निर्णय के विरुद्ध आवाज़ उठाई। अधिकारियों का व्यक्ति-गत निर्णय तभी तक महत्व रखता है जब तक कि उसके विरुद्ध कोई जाति, कोई देश, कोई समाज, या संप्रदाय आवाज़ न उठाये। नाज़िम साहब ने सोचा कि कहीं बग़ावत न हो जाय। यदि बादशाह तक यह बात पहुँच गई तो मुझे भी प्राणों से हाथ धोने पड़ेंगे। उदारता से किये गये अपने निर्णय पर यदि नाज़िम डटा रहता तो सम्भव था कि हक़ीक़त की जान बच जाती। पर उसने सम्प्रदाय की क्रान्ति से भयभीत होकर अपना विचार बदल लिया और कहा—यदि यह मुसलमान हो जावे तो बच सकता है। जब हक़ीक़त से पूछा गया तो उसने साफ़ शब्दों में इनकार कर दिया। नाज़िम ने उसे बड़े-बड़े प्रलोभन दिये, जिस पर हक़ीक़त ने तमतमाए हुए चेहरे के साथ ओजस्विनी भाषा में कहा—

नहीं है चाह मुझ को ऐसी हसरत की;
नहीं है चाह मुझ को मालोदौलत की!

मगर है चाह हिन्दू हूँ, हिन्दू ही रहूँगा मैं।
हुआ हूँ हिन्दू में पैदा तो हिन्दू ही मरूँगा मैं।

यह प्रतिज्ञा भीष्म की प्रतिज्ञा से कम न थी। सत्यहरिश्चन्द्र की 'चन्द्र टरै सूर्य टरै, टरै जगत व्यवहार' वाली प्रतिज्ञा भी वीर हकीकत की प्रतिज्ञा के समकक्ष ठहरती है। इसकी आत्मा में अद्‌भुत शक्ति थी। धर्म-रक्षा के लिए माता का प्यार त्याग दिया, पिता का स्नेह छोड़ा, स्त्री का मोह छोड़ा। अभी तक तो इस बालक ने संसार के बाह्य रूप को भी नहीं देखा था। फिर भी अपनी दृढ़ता से उसने ध्रुव को भी मात कर गया। ध्रव को रोकने का कार्य केवल नारद ने किया था वह भी विशेष आग्रह से नहीं, किन्तु इस वीर बालक को सैकड़ों यातनायें दी गई। डराया गया, धमकाया गया। फिर भी वह अपने विचार से तिल भर भी पीछे नहीं हटा। इससे मानना पड़ेगा कि हकीकतराय की आत्मा महान् थी। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा यही थी कि धर्म क्या वस्तु है, उस का पालन करना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है" यह बात तो उसको अभी तक किसी ने पढ़ाई ही न थी। केवल उसके प्राक्तन संस्कार प्रबल थे, जिनके कारण अत्याचारी शासकों का आतङ्क भी उस पर कोई प्रभाव न डाल सका। रङ्क से लेकर राजा तक कोई ऐसा नहीं होगा जिसको लोभ ने अपने जाल में न फंसाया हो। हकीकतराय को तरह-तरह के प्रलोभन दिये गये, मौत की भी धमकी दी गई, पर वह धर्मवीर अपनी प्रतिज्ञा पर हिमालय की भाँति अटल रहा।

बहुत कुछ कहने के बाद जब नाज़िम ने देखा कि यह हठी बालक नहीं मानता तो उसने उसे मृत्यु-दण्ड की घोषणा सुना दी। काज़ी, मुल्ला तथा अन्य धर्म के अन्ध भक्तों के हर्ष का पारावार

न रहा किन्तु भागमल और कौरां पर क्या बीती इसका वर्णन करना हमारी लेखनी से बाहिर है।

संसार में प्रायः ऐसे ही देखा गया है कि जिसको मृत्यु-दण्ड दिये जाने की घोषणा होती है, उसके प्राण तो पहिले ही सूख जाते हैं। किन्तु हकीकतराय तो अपने धर्म पर बलिदान हो रहा था इसलिए वह अत्यधिक प्रसन्न मुखमुद्रा में जल्लादों के सामने खड़ा है। जल्लाद ने वार करने के लिए तलवार उठाई, किन्तु वह हाथ से नीचे गिर पड़ी। हकीकत ने तलवार उठाकर जल्लाद के हाथ में पकड़ा दी और कहा – तुम कायरता क्यों दिखलाते हो। ज़रा से छोटे बच्चे पर भी तुम वार नहीं कर सकते तो अपने कर्तव्य को कैसे निभा सकोगे। आखिर इस वीर आत्मा के सामने उसकी हिम्मत न हुई कि उसे क़त्ल कर सके। फिर काज़ी के कहने पर दूसरे घातक ने उस वीर बालक का सिर धड़ से अलग कर दिया। माता पिता इस दृश्य को देखकर मूर्छित हो गये। उनकी दुनिया लुट चुकी थी। वृद्धावस्था में पुत्र-वियोग का असह्य भार उनको उठाना पड़ा। पुत्र-वधू लक्ष्मी अपने पति के साथ चिता में जलकर राख हो गई। लाहौर के शालामार बाग़ में अभी तक भी हकीकतराय की पुण्य स्मृति में एक समाधि बनी हुई है। यहां प्रतिवर्ष वसन्त-पञ्चमी को मेला लगता है। यह शहर लाहौर से ५ मील की दूरी पर है। भागमल और कौरां गली-गली, बाज़ारों, सड़कों और लाहौर के खण्डरों में पागलों की भांति भटकने लगे। उनको न खाने की सुध थी न कुछ पीने की, न सोने की इच्छा। एक मात्र अपने इकलौते पुत्र की याद में वे तड़फ रहे थे।

राज्य में होने वाले पाप-पुण्य का राजा के ऊपर अवश्य प्रभाव पड़ता है। राष्ट्र यदि शरीर है तो राजा उसका प्राण।

शारीरिक पीड़ाओं का प्रभाव आत्मा पर अवश्य पड़ता है। यदि किसी देश का शासक जान बूझ कर प्रजा पर अत्याचार करे चाहे वह उसके परिणाम को उस समय न समझे, पर एक न एक दिन वह इस बात का अनुभव अवश्य करेगा कि मैंने अब तक क्या किया और क्या करने जा रहा हूँ। तैमूरलंग बड़ा अत्याचारी और प्रभावशाली बादशाह था। उसने इस्लाम के नाम पर असंख्य प्राणियों का वध किया। तैमूर का ठहाका मृत्यु का ठहाका था। लेकिन उम्मतुलहबीब के सामने 'जो कि तातार सेनापति यजदानी का बेटा था। उसके सामने उसे भी झुकना पड़ा। यह बात तो स्वयं अत्याचार करने वालों का एक क़िस्सा है। जो राजा स्वयं अत्याचारी नहीं बल्कि उसके राज्य के कर्मचारी पापी हैं; तो इनके द्वारा किया गया पाप राजा के आत्मा को भी अवश्य दहला देता है। जब हक़ीकतराय का हत्याकाण्ड हुआ उन दिनों मुग़ल सम्राट् फर्रुखसीयर भारत पर राज्य करता था। यद्यपि वह स्वयं इतना बुरा न था जितने कि इसके अधिकारी बुरे थे। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इसके राज्य का शासन-प्रबन्ध अच्छा न था। इतना बड़ा काण्ड राजधानी लाहौर में हो गया और बादशाह को पता तक ही न लगा। कुछ भी हो बादशाह के माथे पर हकीक़त की मृत्यु का कलंक लग चुका था। रात को बादशाह ने स्वप्न में एक खूबसूरत बालक को देखा। बादशाह ने चाहा कि उसे गोद में उठा ले यह हक़ीकत की आत्मा थी और उसने बादशाह से कहा—बादशाह सलामत मुझे पहचानते हो? अच्छा मैं तुम्हें स्वयं ही बतलाता हूँ। मैं उस वीर की आत्मा हूँ, जिसको इस्लाम के नाम पर तेरे जल्लादों ने क़त्ल कर दिया है। तेरे छोटे-बड़े शासक प्रजा पर घोर अत्याचार

कर रहे हैं। उठ अपनी प्रजा की देख-रेख कर। याद रख नहीं तो निरपराधियों की आहों से तेरा यह विशाल राज्य मिट्टीमें मिल जायेगा।

बादशाह इस भयानक और अद्‌भुत स्वप्न को देखकर अचानक चौंक पड़ा, घबड़ा कर उसने अपनी बेगम को जगाया। उसको भी इसी तरह का स्वप्न आ रहा था। बादशाह और बेगम को निश्चय हो गया कि किसी निरपराधी प्राणी की हत्या हो गई है और उसकी आत्मा हमें सावधान करने आई है। दूसरे दिन बादशाह ने गुप्तरूप से पता लगाना आरम्भ किया कि दर-दर भटकते भूखे-नंगे लड़खड़ाते (हकीकत के माता-पिता) भागमल और कौरां महल के पास ही पहुँच गये। किसी तरह बादशाह तक उन्होंने अपनी प्रार्थना पहुँचाई। यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि किस प्रकार उनका बादशाह से मिलाप हुआ। कुछ लोगों का कथन है कि साधु और साध्वी के भेष में महल के आगे जाते हुए बादशाह से उनकी जान-पहचान हुई। मिलाप के बाद बादशाह ने सारा हाल पूछा और उन अभागों ने ज्यों का त्यों सब कुछ कह दिया। दुखियों की करुणा-कहानी सुनकर उसका हृदय उमड़ आया और उनको आश्वासन दिया कि तुम्हारे पुत्र के प्रतिशोध रूप में सब हत्यारों को मौत की सज़ा दी जायेगी।

एक दिन बादशाह बिना सूचना दिये नाज़िम साहब के मकान पर चला गया। वहां नाच-गान हो रहा था। बादशाह के अचानक वहाँ पहुँच जाने से रङ्ग में भङ्ग हो गया। मसन्द पर बैठते ही बादशाह ने नाज़िम साहब को इस्लाम के विषय में पूछा और नाज़िम ने यह अच्छा समय जानकर कहा कि "जहांपनाह ? अल्ला-ताला की मेहरबानी से आपका बोलबाला है। अभी कुछ ही दिन हुए एक काफ़िर को मौत की सज़ा दी गई थी। उसने रसूल ज़ादी

फातमा की तौहीन की थी। काज़ी ने शरह के मुताबिक उसको क़त्ल का हुक्म दिया था, किन्तु लाहौर के हाकिम मिर्ज़ा अमीरबेग ने उसकी तरफ हो उसे नामंजूर कर दिया था, केवल इसलिये कि मुलज़िम काबिले रिहाई है। उसकी इस सम्मति को आपके गुलामने पूरा न होने दिया।" इस बात से बादशाह को पूरा विश्वास हो गया और उसने निश्चय कर लिया कि मुझे अब क्या करना चाहिए। दूसरे दिन बादशाह की ओर से घोषणा की गई कि इस्लाम की रक्षा करने वाले काज़ी, मुल्ला, और निज़ाम साहब अपने परिवार सहित दरबार में उपस्थित हों। उनको इनाम दिया जावेगा। मिर्ज़ा अमीरबेग को क़ैद कर लिया जाय, क्योंकि उसने हकीकतराय की मौत की सज़ा माफ़ कर दी थी। सब लोग उपस्थित हो गये। बादशाह उन सबको रावी नदी के किनारे ले गया और पहिले क़ाज़ी तथा मुल्ला को परिवार-सहित किस्ती की सैर कराने के बहाने मंझधार में ले जाकर डुबो दिया। बाद में नाज़िम साहब को एक बड़े भारी गहरे गड्ढे में धक्का देकर मार डाला गया। अमीर बेग की हथकड़ियां खोल दी गईं और बादशाह उससे गले मिल कर कहने लगा—मेरे दोस्त, तुमने ही सच्चे इस्लाम को पहचाना है। आज से तुम लाहौर के नाज़िम बनाये जाते हो। आगे भी इसी प्रकार न्याय से कार्य करना। बादशाह के इस फैसले से बाद मुसलमानों में एक प्रकार की सनसनी सी फैल गई। कुछ काल तक अशान्ति का वातावरण रहा।

एक आत्मा के बलिदान से सारे हिन्दुओं का कल्याण हो गया। वीर हकीकत ने अपने नाम को तो अमर अमर किया ही पर उसने हिन्दु धर्म की रक्षा करके हिन्दुओं का गौरव भी बढ़ाया। आज सौ वर्षों के बाद भी जब हम हकीकत के बलिदान

को याद करते हैं तो हमें एक प्रकार का गौरव अनुभव होता है। हम सोचते हैं कि ऐसा वीर बालक हमारे पूर्वजों में हुआ था जिसने मुगल शासन की नींव हिला दी। उसने आने वाली सन्तान को धर्म-रक्षा का, अपने कर्तव्य-पालन का तथा हिन्दुत्व का पाठ पढ़ाया।

किसी जाति के इतिहास को देख लीजिए उसका उत्कर्ष तब तक नहीं हो सका जब तक कि उसका कोई न कोई वीर बलिदान न हुआ हो। साधारण मनुष्य भी यदि देश, जाति और धर्म के निमित्त अपने आपको बलिवेदि पर समर्पित कर देता है तो उससे सारी जनता चौकन्नी हो जाती है। यदि किसी महान् व्यक्ति का बलिदान हो तो उसकी आत्मशक्ति विरोधियों एवं अत्याचारियों के हृदयों को दहलाती हुई स्वजाति के मनुष्यों को जागृत कर देती है। प्रायः मृत्यु के पश्चात् ही किसी व्यक्ति के गुणों की ख्याति होती है। जनता जीवित मनुष्य का उतना सत्कार नहीं करती जितना मृत्यु के बाद। राम और कृष्ण की जितनी ख्याति, उनके गुणों का वर्णन जितना आज का मानव-संसार कर रहा है उतना उनके जीवन-काल में संभव है कभी न हुआ होगा। यद्यपि इन लोगों ने अपने जीवन में कार्य भी बहुत अधिक किये। हमने यहाँ मानव-समाज की प्रवृति का परिचय दिया है कि वह अपने वीरों तथा अपने नेताओं का उनके मरने के बाद ही आदर सत्कार करता है।

यद्यपि इन महापुरुषों की तरह वीर हकीकत को कोई विशेष कार्य करने का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि उसका अभी बाल्यकाल भी समाप्त न हुआ था। अभी उसका विद्याध्ययन का समय था। दैव के कुपित हो जाने से शीघ्र ही धर्म की बलिवेदि पर उसे बलिदान होना पड़ा। यदि बचपन में ही यह काण्ड न हो

जाता तो संभव था कि आगे भविष्य में वह वीर बालक एक अद्वितीय धर्म-धुरीण बनता। समय आने पर ही सारी बातें अपना प्रभाव दिखाती हैं। थोड़े से ही समय में बहुत कार्य कर देना असम्भव है। वीर हकीकत राय को तो किसी भी कार्य के करने का अवसर ही नहीं मिला। केवल एक ही दिन की लड़ाई और गाली-गलौच से इतना बड़ा काण्ड हो गया। आश्चर्य की बात है कि वीर हकीकत राय के जीवन-काल में ऐसे नृशंस शासकों के हाथ शासन की बागडोर थी जिन्होंने एक साधारण सी बात को साम्प्रदायिकता का रंग देकर बहुत संगीन जुर्म बना डाला। फिर उस में भी हिन्दुओं की ओर से कोई बोलने वाला नहीं। इतिहास के पृष्ठ उलटिये जहाँ कहीं मुसलमानों का ही बोलबाला था। इतना ही नहीं बल्कि बालक हकीकत राय की ओर से कोई हिन्दू सहायता करने वाला भी न था। जहाँ ऐतिहासिक लोग इस बात को लिखते हैं कि हकीकत का पिता सेठ भागमल इतना बड़ा आदमी था कि सारे स्यालकोट में उसकी ख्याति थी और वह एक गण्य-मान्य पुरुषों में गिना जाता था, तो क्या उसके बेटे के ऊपर किये जाने वाले अत्याचार का पता उस प्रान्त के निवासी हिन्दुओं को न रहा होगा? पता होने पर उस प्रान्त की हिन्दू जनता ने विद्रोह के रूप में न सही तो प्रार्थना के रूप में ही मुसलमान शासकों से अनुनय-विनय क्यों नहीं की।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय मुसलमानी आतंक प्रत्येक हिन्दू के दिल पर छाया हुआ था। हिन्दू जनता मृतप्राय थी। मुसलमानों के विरुद्ध आवाज़ उठाने की उसमें शक्ति ही न थी। यह तो सर्व-सम्मत बात है कि उत्तर पश्चिम प्रान्त पर १०वीं शताब्दी से विदेशी आक्रमणकारियों के लगातार आक्रमण होते

रहे हैं। सैंकड़ों नहीं हज़ारों बार उन विदेशी आक्रमणकारियों से लोहा लेते-लेते पञ्जाब की हिन्दुजाति अत्यन्त शिथिल हो चुकी थी सम्भवतः इसी लिए यहाँ के निवासी अपनी जीवन-रक्षा के निमित्त विरोधी शासकों के प्रतिकूल चलने में हिचकते थे।

कुछ भी हो जहाँ वीर हकीकतराय के साथ किये गये अन्याय-पूर्ण वर्णन को जब हम पढ़ते हैं तो जहाँ तहाँ मुसलमानों का ही बोलबाला देखते हैं। केवल भागमल और माता कौरां के सिवाय किसी हिन्दू का नाम नहीं सुनते। इससे तो यह प्रतीत होता है कि मानो तत्कालीन हिन्दूजनता हकीकतराय के बलिदान से अथवा सेठ भागमल से द्वेष करती हो। अपनी जाति के मूल उद्देश्यों से पिछड़ी हुई और स्वाभिमान के गौरव से गिरि, च्युत हुई हिन्दू जाति को जगाने के लिए ही उस वीर बालक का जन्म हुआ। अपने थोड़े से जीवन में, जबकि उसको धर्म की परिभाषा बताने वाला भी कोई न था—इतना कुछ कर गया तो हमें मानना पड़ेगा कि वह एक साधारण बालक नहीं था। बल्कि उसकी आत्मा में एक महान् ज्योति प्रकाशमान थी। उस परम पिता परमात्मा की शक्ति अपरम्पार है। उसके आगे बड़े २ चक्रवर्ती राजाओं की भी कोई सत्ता नहीं। फिर छोटे-छोटे कीट-पतङ्गों की भाँति काज़ी और नाज़िम की क्या सामर्थ्य थी। हकीकत की आत्मा में उसी परमात्मा की ज्योति जगमगा रही थी। इसीलिए वह अपने शरीर को नाशवान् बना कर आत्मा को अछेद्य अकाट्य बताने वाला हुआ। हिन्दू जाति के लिए यह गौरव की बात है कि उसमें एक हकीकत ही नहीं बल्कि अनेकों ऐसे वीर बालक जन्में हैं जिन्होंने कई अनिर्वचनीय कार्य किये हैं। बालक ध्रुव की अवस्था केवल पाँच वर्ष की थी, जबकि सौतेली माता ने उसको कटु वचन कहे थे। हिन्दुजाति का पाँच वर्ष का बालक भी

आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचने पर क्या कुछ कर सकता है, यह कर ध्रुव ने करके दिखाई। मार्ग में नारद के समझाने पर भी वह अपनी प्रतिज्ञा में अटल ध्रुव तपस्या के बल से ध्रुव-लोक का स्वामी बन कर ही रहा। हिरण्यकशिपु की विविध यातनाओं को सहन करता हुआ बालक प्रह्लाद भगवान् विष्णु का अनन्य भक्त बना रहा। कौरवों की असंख्य सेना का संहार करता हुआ वीर अभिमन्यु ही चक्रव्यूह-भेदन में समर्थ हो सका। चाहे बाद में कई महारथियों ने मिलकर उसको मार डाला। परन्तु अभिमन्यु की वीरता पर किसको सन्देह हो सकता है, जोकि अवस्था में अभी केवल १५-१६ वर्ष का ही था। सिक्ख संप्रदाय के अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह के जिन दो नौनिहाल बालकों को सरहिन्द के नवाब ने दीवार में चुनवा दिया था आखिरी दम तक वे वीर बालक किस तरह धर्म पर अटल रहे। इस विषय में उनकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। इन्हीं वीर बालकों की भाँति एक हकीकतराय भी था। किन्तु इन सब से हकीकतराय में यह विशेषता पाई जाती है कि मरते समय तक जब कभी इससे कोई प्रश्न पूछा गया तो उत्तर में आत्म-ज्ञान, धर्म का तत्व, जाति-गौरव आदि विषयों का ही यह उपदेश देता रहा। एक स्थान पर यह कहता है कि—

"हिन्द के वासी लोगो! तुम सब अपने धर्म पर मरना सीखो। जिससे दुनिया में तुम्हारा नाम अमर हो जाय।

इस समय हिन्दू-जाति की दशा बिगड़ती जा रही है, इसलिये इसे सुधारने के लिए सब एक सूत्र में बन्ध जाओ। अपने देश तथा जाति पर बलिदान होना सीखो।"

इसके बाद हकीकत हिन्दू मुसलमानों को भी एकता के सूत्र में बांधना चाहता था। जिन मुसलमानों ने हकीकतराय के साथ दुष्टता का बर्ताव किया उनके साथ भी वह उदारता से पेश आया। मुसलमान और हिन्दू दोनों परस्पर भाई-भाई हैं, इसलिए ऐ मेरे भाइयो ! आपस की लड़ाई छोड़कर प्रेम से रहना सीखो।

इस वीर बालक के निर्भीक वचनों को सुनकर कई सहृदय मुसलमान भी इसके साथ सहानुभूति प्रकट करने लगे थे। जिन सिपाहियों के हाथों बन्दी बनाकर इस बालक को लाहौर भेजा गया था वे भी इसको निरपराध समझकर जंगल में छोड़ देना चाहते थे। एक सिपाही ने तो यहां तक कह दिया था कि ऐ नेक लड़के, मैं जानता हूँ तू अपराधी नहीं है। इस्लाम को बदनाम करने वाला काज़ी ही तेरी मौत का कारण बन रहा है। मैं मुसलमान हूँ खुदा-परस्त हूँ। खुदा की निगाह में तू गुनहगार नहीं। एक बेगुनाह का साथ देने में खुदा मुझ से कभी नाराज़ नहीं हो सकता। अगर तुम इसी जंगल में कहीं छिप सको तो छिप जाओ। मैं उस पाजी काज़ी से समझ लूँगा। तुम्हारे बदले मैं मरने को तैयार हूँ। बेगुनाहों की मदद के लिए मैं सर्वथा कटिबद्ध हूँ।

दयालु सिपाही की यह बात सुनकर भी उस वीर बालक के मन में कायरता के भाव उत्पन्न नहीं होते। वह लुक-छिपकर अपना धर्म कलङ्कित करना नहीं चाहता। बड़ी धीरता से उसको यूँ उत्तर देता है—ऐ मेरे दयालु मुसलमान भाई ! मैं तेरी इस दया का आभारी

हूँ। परन्तु मैं यहां से भागकर अपने और तेरे माथे पर कलङ्क का टीका हरगिज़ न लगाऊँगा। मेरे प्यारे भाई? जिस तरह तू आज मेरे लिए मर सकता है यही बात अपने अन्य भाइयों को सुनाना कि हिन्दू मुसलमानों के लिए और मुसलमान हिन्दुओं के लिए मरना सीखें। तभी सबका उपकार होगा। इस छोटे से बालक के हृदय में इतनी गूढ़ बातें कैसे आगईं? ऐसा उपदेश तो अच्छे से अच्छा पढ़ा-लिखा भी नहीं दे सकता। बड़े २ ज्ञानी ध्यानी भी आत्म-हत्यारों से द्वेष करने लगते हैं। फिर यहां पर तो जातीयता का प्रश्न था! नीच प्रकृति के मुसलमान हिन्दू-जाति, हिन्दू-सभ्यता तथा संस्कृति को संनाश कर देने पर ही तुले हुए थे। इसके विपरीत हिन्दू लोग मुसलमानों के साथ भाई-भाई का सा नाता रखना चाहते थे। वास्तव में हिन्दू जाति की उदार भावना प्रशंसनीय है। हकीकत राय उस समय हिन्दू-जाति का एक प्रतिनिधि ही तो था।

हिन्दुओं के उपनिषद् ग्रंथों में आत्मा की सुन्दर विवेचना की गई है। आत्मा अजर है, अमर है। इसको कोई काट नहीं सकता, जला नहीं सकता। शरीर के नाश होने पर भी आत्मा अविनाशी है। जीवात्मा परमात्मा का अंश है। माया के बन्धन में पड़कर जीवात्मा अपने असली रूप को भूला रहता है। माया का पर्दा हटने ही आत्मा परमात्मा एक हो जाते हैं। इस प्रकार के आत्म-ज्ञान का मनन करने से योगी लोग मृत्यु के भय से मुक्त हो जाते हैं। परन्तु इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उन्हें बड़ी साधनाओं का साधन करना पड़ता है। अन्त में सफलता भी प्रत्येक को नहीं मिलती—

"यततामपि सिद्धानां कश्चिन् मां वेत्ति तत्वतः ।"

इस गीता के वचन से भगवान ने स्पष्ट कह दिया है कि सैकड़ों हज़ारों यत्न करने वालों में से मुझको कोई विरला ही जान सकता है। अर्थात् इस मायावी संसार से मुक्त होना बहुत ही कठिन कार्य है। जन्म-मरण के बन्धनों से (भय से छुटकारा पा जाना ही मुक्ति कहलाती है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि ज्ञानी मनुष्य मरता ही नहीं ? बल्कि ज्ञानी इस बात को अच्छी प्रकार से समझ लेता है कि मेरा यह पांचभौतिक शरीर अवश्य ही नाशवान् है और आत्मा अविनाशी है। इसलिए शरीर के नाश होने पर मुझको शोक नहीं करना चाहिए। वस हकीकत को इस बात का पूर्ण ज्ञान था। साधारण प्राणी को जब मृत्यु का दण्ड सुनाया जाता है तो उसी समय उसके प्राण सूख जाते हैं, किन्तु वध्य स्थान पर ले जाया गया हकीकत अपेक्षाकृत दृष्टि से प्रसन्नमुख होकर खड़ा रहा। उसको इस बात की प्रसन्नता थी कि मैं धर्म के लिए मर मिट रहा हूँ। मेरा शरीर भले ही नाश हो जाय पर मेरी कीर्ति मेरी आत्मा का उज्ज्वल प्रकाश दिगदिगन्त में फैल जायगा। वधिक ने जब अधिकारियों के संकेत पर मारने के लिए तलवार उठाई तो निरपराध बालक की आत्म-शक्ति के प्रभाव से उसकी तलवार नीचे गिर गई। यदि न्याय की तराजू से देखा जाता तो वधिक के हाथ से तलवार का ज़मीन पर गिर जाना ही इस बात का द्योतक था कि बालक निरपराधी है। पर वहां तो न्याय की कोई बात ही नहीं थी। एक जाति दूसरी जाति को कुचलने पर तुली हुई थी।

संसार में सभी को मौत से भय है, पर वीर हकीकत ने ज़मीन पर पड़ी हुई तलवार उठाकर वधिक के हाथ में पकड़ा कर कहा कि ज़रा सावधानी से तलवार चलाओ। क्या तुम एक छोटे से बालक का भी वध नहीं कर सकते ? वधिक हैरान हो गया। आज तक उसने ऐसा कोई नहीं देखा था। न जाने कितने ही अपराधियों को उसने क़त्ल कर दिया, पर आज एक निरपराधी बालक की हत्या करने से उसका कलेजा काँप रहा था। वीर हकीकत की आत्मा कितनी शक्तिशालिनी थी। पाठक स्वयं ही इसका अनुमान कर सकते हैं। वधिक ने हकीकत से पूछा ? ऐ लड़के ! क्या तुझे मरने से डर नहीं मालूम होता ? क्या तुझे अपने प्राणों से मोह नहीं ? बूढ़े माता-पिता तथा नवविवाहिता पत्नी की याद तुझे नहीं सताती ?—वधिक के वचनों को सुनकर बड़ी निर्भीकता से वह उत्तर देता है—मैं मौत से क्यों डरूँ। एक न एक दिन इस नश्वर शरीर का त्याग करना ही पड़ेगा। फिर मैं तो देश-जाति तथा धर्म पर बलिदान हो रहा हूं। मौत का दण्ड वीरों को ही मिला करता है। कायर और बुज़दिलों को नहीं। मेरे बलिदान से आने वाली सन्तति शिक्षा ग्रहण करेगी कि धर्म के आगे शरीर की कोई कीमत नहीं। प्रत्येक मनुष्य का यह ध्येय होगा कि वह धर्म के लिए बलिदान हो जाय। इसके बाद हकीकत ने कहा कि माता-पिता का मोह झूठा है। संसार के प्राणियों ने अपने व्यवहार चलाने के लिए माता-पिता भाई-बन्धु आदि का नाता बनाया हुआ है। जीते जी तक ही यह रिश्ता है। मरने के बाद कौन किसकी माता, कौन किस का पिता

है। इसे सब कोई नहीं जानते। जब तक आत्मा और शरीर का परस्पर सम्बन्ध है तभी तक संसार के लोगों को अपना पराया नज़र आता है। प्राण-पखेरू के उड़ जाने पर यह हाड़ मांस का पुतला किसी काम का नहीं रह जाता। जिस शरीर को तुम आज सुन्दर देख रहे हो प्राण निकलते ही इससे दुर्गन्धि निकलने लगेगी। वास्तव में शरीर की कोई बड़ाई नहीं। यह आत्मा का ही सारा खेल है और वह आत्मा सब में एक जैसी है।

ऐ वधिक! जो चेतन शक्ति तेरे अन्दर काम कर रही है वही मेरे में भी है। शरीर के अलग होने से हम दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु वास्तव में तो आत्मा के एक होने से तू और मैं एक ही हैं। कौन किसको मारता है और कौन मारा जाता है यह बात तो ज्ञान की दृष्टि से देखने पर मिथ्या प्रतीत होती है। तू तो क्या काज़ी-मुल्ला नाज़िम और बादशाह भी मेरी आत्मा का नाश नहीं कर सकता। हां मेरे धड़ से सिर को तुम भले ही पृथक करलो मुझे इसका तनिक भी डर नहीं।

हकीकत राय की आत्म-ज्ञान से भरी बातों को सुनकर वधिक को बड़ा ज्ञान हो गया और वह समझ गया कि यह कोई महान् व्यक्ति है। इसका वध करना मेरी शक्ति से बाहर की बात है। आखिर उसने कहा कि—ऐ समझदार लड़के। मैं आज तक अज्ञान में पड़ा हुआ पाप करता रहा। आज तूने मेरे आँखों की पट्टी खोल दी। इस तलवार से मैंने हज़ारों का खून किया परन्तु आज मुझसे यह पाप नहीं होगा। इस प्रकार उस वीर बालक की

ज्ञान-भरी बातों को सुनकर कठोर हृदय बधिक का भी हृदय पिघल गया। इससे बढ़ कर आत्मा की पवित्रता का प्रमाण और क्या हो सकता है।

उपरोक्त वर्णन से पाठक भली भाँति समझ गये होंगे कि बालक हकीकत केवल धर्म पर ही बलिदान होने वाला नहीं था अपितु वह एक बड़ा भारी आत्मज्ञानी वीर था। उसकी आत्मा बड़ी पवित्र और उज्ज्वल थी। अन्यथा इतनी छोटी सी अवस्था में वेदान्त के रहस्यमय उपदेश करना किसी साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। यद्यपि मुसलमान शासकों ने अपनी अदूरदर्शिता से धर्म-परायण बालक का वध करवा डाला, पर उसके उपदेश का प्रभाव हिन्दू-मुसलमान सभी पर पड़ा। हकीकत की मृत्यु ने सोती हुई हिन्दू जाति को जगा दिया। आज तक तो वह एक प्रकार से मृतप्राय ही थी, परन्तु अब धर्मवीर बालक की आत्मा ने उसमें नव-जीवन का संचार भर दिया।

इसका अच्छा प्रभाव पड़ा। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि तत्कालीन बादशाह तो कुछ अच्छा था। किन्तु वह राज-काज की ओर से बेखबर रहता था। यही कारण है कि एक निरपराध बालक को मौत के घाट उतार दिया गया और बादशाह को खबर तक भी नहीं।

यदि यों कहा जाय कि जिसके राज्य में छोटे से लेकर बड़े २ अधिकारियों तक सब पक्षपात करने वाले हों तो हो सकता है कि राजा भी ऐसा ही हो। परन्तु इतना अवश्य है कि बादशाह ने

हकीकतराय के हत्यारों को दण्ड प्रदान किया। निर्दोष बालक की पवित्र आत्मा ने बादशाह को भी दहला दिया। आत्मा का जब नाश ही नहीं होता तो सम्भव है कि जैसा हम पहिले कह आये हैं हकीकत की आत्मा प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष—जागते हुए या सोते हुए बादशाह को अवश्य दिखाई दी होगी। बादशाह चाहे दयालु न भी रहा हो। किन्तु निरपराध प्राणी की हत्या कितनी भयङ्कर हो सकती है जो बड़ों-बड़ों को भी झुका देती है। यह बादशाह के उचित न्याय ने ही स्पष्ट कर दिया।

एक छोटे से बालक का इतना साहसी होना हिन्दु-समाज के लिये बड़े गौरव की बात है। एक अद्वितीय पुत्र के अलौकिक कर्मों द्वारा ही भागमल और कौरां का नाम भी संसार भर में अजर-अमर हो गया। यदि भागमल के घर ऐसा वीर सपूत न होता तो कौन उसको जानता? चाहे वह बड़ा भारी सेठ या कोई उच्च अधिकारी था। भागमल का नाम उसके धनिक होने से आज कोई नहीं लेता। संसार जानता है कि ईश्वर की कृपा से भागमल के घर ऐसा पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ जिसके कारण हम उसको साधुवाद दिये बिना नहीं रह सकते।

पुत्र के गुणी, यशस्वी और वीर होने का सब से अधिक श्रेय माता को मिला करता है। महाराष्ट्र केसरी शिवाजी हिन्दु-जाति की रक्षा करने में तत्पर हुए तो अपनी माता के सदुपदेश से ही हिन्दुओं के एकमात्र प्रतिनिधि बने। आज संसार इस बात को जोरदार शब्दों में कह रहा है कि शिवाजी के वीरत्व में उनकी माता जीजाबाई एकमात्र कारण थी। उस वीर माता ने बचपन

में ही अपने पुत्र को रामायण और महाभारत के वीरों की कहानियाँ सुना-सुना कर बालक को इतना वीर बना दिया कि भविष्य में उसी ने औरङ्गज़ेब जैसे मुग़ल सम्राट के भी दाँत खट्टे कर दिये। इसी तरह जितने भी महापुरुष इस संसार में हुए बचपन में उनकी वीर माताओं ने ऐसी शिक्षा दी कि आगे चलकर वही बड़े आदमियों में गिने जाने लगे। इसके लिये सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं। इसी भाँति माता कौरां ने भी अवश्य अपने प्रिय पुत्र को धार्मिक शिक्षा दी होगी। माता की शिक्षा गुरु की शिक्षा से कहीं अधिक प्रभाव-शालिनी होती है। माता गुरु की भाँति केवल डाँट कर बच्चे को शिक्षा ही नहीं देती बल्कि उसकी शिक्षा में वात्सल्य-भाव मिश्रित होता है। वह अपने बच्चों को जिस प्रकार के साँचे में ढालना चाहे ढाल सकती है। हकीकतराय ने धार्मिक शिक्षा तो फिर माता के अतिरिक्त किसी अन्य से पाई ही न थी। यह बालक तो एक ऐसी पाठशाला में पढ़ता था जहाँ मुसलमान अध्यापक केवल अरबी-फारसी ही पढ़ाया करते थे उनको तो हिन्दू-धर्म से स्वाभाविक घृणा थी। घृणा ही नहीं बल्कि वे हिन्दु-धर्म के जानी दुश्मन थे। ऐसी अवस्था में मानना पड़ेगा कि बालक हकीकत को धार्मिक शिक्षा उसकी माता के द्वारा ही हुई होगी। परन्तु उसी माता का पढ़ाया बेटा जब अपने धर्म पर बलिदान होने जा रहा था तो माता ने वात्सल्य-भाव से विभोर होकर कहा। बेटा, यदि मुसलमान होने से तेरी जान बचती है तो तू मुसलमान ही हो जा। अर्थात् माता जानती है

कि यदि मेरा बच्चा मुसलमान भी हो जाय तो जीते जी मैं उसका दर्शन तो कर सकूँगी।

माता की ममता कितनी प्रबल होती है। वह पुत्र-प्रेम के आगे धर्म को भी तिलाञ्जलि दे सकती है। पर धर्म-वीर इस समय माता की ममता की कोई परवाह न करता हुआ उलटा उसे उपदेश देता है—"पूज्य माता जी" जिस धार्मिक शिक्षा के द्वारा मेरी आत्मा इतनी शक्ति-शालिनी हुई है वह सब आपकी कृपा है। आज आप किस मुख से मुझे धर्म त्यागने को कह रही हैं। अब अपने पुत्र की ममता को छोड़ मुझे बलिदान की वेदी पर चढ़ने में आशीर्वाद दें, जिससे तेरा बेटा हकीकत आखिरी दम तक धर्म से मुख न मोड़े। यद्यपि वह वीर माता हृदय से तो यह नहीं चाहती थी कि मेरा पुत्र धर्म से विमुख होकर अपने माता पिता का नाम कलङ्कित करे। फिर भी उसने जो भी कहा, वह पुत्र-ममता के उद्रेक से उद्वेलित होकर ही कहा—

अस्तु, धर्मवीर हकीकतराय ने अपने उज्ज्वल चरित्र से जहाँ अपना नाम स्वर्णाक्षरों से अङ्कित किया, वहाँ अपने माता-पिता का नाम भी सदा के लिये अजर-अमर कर दिया। ईश्वर की गति बड़ी विचित्र है, कौन जानता था कि १८वीं सदी में ऐसा बालक पैदा होगा जो अपने त्याग (बलिदान) से हिन्दु-जाति में नव-जीवन की आग फूँक देगा। १८वीं सदी में पञ्जाब के हिन्दुओं की अवस्था कितनी शोचनीय

थी। यह बात भी वीर हकीकत का जीवन-चरित्र पढ़ने से पाठकों को मालूम हो जायगी। लाहौर में जिस स्थान पर इस वीर बालक को मौत की गोद में सुलाया गया था वहां पर आज तक भी उसकी यादगार में उसकी समाधि बनी हुई है। लोग इसे हकीकतराय की समाधि के नाम से पुकारते हैं। यह स्थान लाहौर से ५ मील की दूरी पर है। प्रत्येक वर्ष वसन्त पंचमी के शुभ त्योहार पर यहाँ एक बड़ा भारी मेला लगता है। समाधि के चारों ओर एक सुन्दर बाग़ लगा हुआ है, जिसका नाम शालामार बाग़ है। यों तो बाग के नज़दीक रहने वाले लाहौर निवासी शाम सवेरे इस बाग़ में सैर करने जाते हैं, किन्तु दूर के रहने वाले साल भर में एक बार अवश्य इस पवित्र समाधि के दर्शन करने आते हैं। वर्तमान समय में समाधि के भवन की अवस्था जीर्ण-शीर्ण है। धार्मिक जनता को चाहिए कि ऐसे वीरात्मा के स्मृति-चिह्न को अधिक से अधिक दृढ़ बनाएँ। जिसने हिन्दू धर्म के लिये अपने प्राणों को भी निछावर कर दिया। उसके स्मृति-चिह्न की ऐसी टूटी-फूटी दशा। चाहिए तो यह था कि सारी हिन्दू जनता उस वीर बालक के पद-चिह्नों पर चल कर अपने धर्म की रक्षा करती और अपनी सन्तान को भी ऐसा वीर बनाने की कोशिश करती।

कुछ भी हो हमको चाहिए कि जिन वीर पुरुषों ने हमारी जाति तथा धर्म की रक्षा के निमित्त अपने आपको बलिवेदी पर समर्पित कर दिया, हम उनका अनुकरण अवश्य करें। अपनी संतान

को ऐसा बनाने का प्रयत्न करें। कोई स्मारक ग्रन्थावली लिखें—

हमें दुख है कि ऐसे धर्म वीर की जीवनी पर लेखकों ने दृष्टि नहीं डाली। यहां छोटे २ साधारण व्यक्तियों की जीवनी पर लेखक सैकड़ों पृष्ठ रंग कर रख देते हैं वहां देश, जाति तथा धर्म पर मिटने वाले वीर हकीकतराय पर कोई उत्तम पुस्तक नहीं लिखी गई। वीर हकीकत की जीवनी का छोटे २ बालकों पर जितना भाव पड़ सकता है उतना जवान, बूढ़ों पर नहीं। छोटे बालक जब यह पढ़ेंगे कि हम जैसा एक बालक अपने धर्म पर किस प्रकार बलिदान हो गया। उनकी आत्मा भी उसका अनुकरण करने के लिए तिलमिला उठेगी। हमने इस छोटे से लेख में उस वीरात्मा का थोड़ा सा दिग्दर्शन कराया है, किन्तु पाठकों के बोध के लिए कोई भी बात नहीं छोड़ी।

महाराजा रणजीतसिंह

पञ्जाब केसरी महाराजा रणजीतसिंह का नाम इतिहास में बड़े गौरव एवं सम्मान से स्वर्णाक्षरों में लिखा गया है। आप उद्योगी, साहसी तथा दयालु थे। साहसी होने के साथ-साथ निडर इतने थे कि बलवान शत्रु के साथ लोहा लेने में तनिक भी नहीं घबराते थे। आलस्य तो इनको छू तक भी न सका था। इनकी न्याय-प्रियता जगत-प्रसिद्ध थी। 'यथा राजा तथा प्रजा' वाली कहावत के अनुसार आपके कर्मचारी भी वैसे ही बन गये थे। एक समय एक किसान ने मुलतान के गवर्नर दीवान मल्ल से शिकायत की कि आपके एक अधिकारी ने मेरे खेत का नुकसान किया है। इस बात को सुनकर दीवान ने अपने सब अधिकारियों को बुलाकर किसान से पहचानने के लिए कहा। अपराधी दीवान साहब का ही पुत्र निकला। परन्तु दीवान साहब ने अपने पुत्र को भी क्षमा न करते हुए उसे उचित दण्ड दिया। यह सब महाराज रणजीतसिंह का ही प्रभाव था। महाराजा रणजीतसिंह बड़े क्षमाशील थे। किसी के साथ भी निर्दयता का व्यवहार नहीं करते थे। अपने राज्य-काल में किसी का भी उन्होंने अंग भंग नहीं कराया। महाराज ने राज्य की ओर से प्रजा की भलाई के लिये आतुरालय खोल रखे थे। गरीबों के लिए भोजन तथा कई अन्य प्रकार के सुभीते कर रखे थे। दीन-अनाथ प्रजा के साथ महाराजा पिता जैसा बर्ताव करते थे. परन्तु दुष्टों तथा अत्याचारियों से कड़ाई से पेश आते थे। छोटे बड़े सभी प्रकार के कार्यों पर अपनी देख-रेख रखना महाराजा का स्वतः सिद्ध स्वभाव था। आपका प्रताप सारे पञ्जाब में मध्याह्न के सूर्य की भांति देदीप्यमान था। अब तक भी महाराजा का नाम सुनकर सिक्खों

के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि रणजीतसिंह ने थोड़े ही समय में अपने भुज-बल तथा अद्भुत राजनीति के प्रभाव से सारे पञ्जाब तथा सीमाप्रान्त में अपना राज्य स्थापित कर लिया। पिता या पितामह से इन्हें थोड़ी सी जागीर और कुछ एक गांव ही मिले थे।

प्रतापी रणजीतसिंह का जन्म ई० सन् १७८० को शीतकाल में हुआ था। आपके पूज्य पिता का नाम महासिंह और माता का नाम माई मालन था। भाग्यवश बचपन में ही चेचक के कारण आपकी एक आँख जाती रही। कई बाज़ारू लड़के इनको 'काना-काना' कहकर पुकारा करते थे, परन्तु वे उन्हें अपने पास बुलाकर कहते कि एक बार. फिर 'काना' कहो तो तुमको इनाम दूँगा। यही स्वभाव इनका बड़ी उम्र तक बराबर बना रहा। इनका कद नाटा था, मुँह पर चेचक के दाग़ होने के कारण रूप भी कोई विशेष सुन्दर न था। परन्तु इतने पर भी इनकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी। ऐसे प्रतापी और होनहार बालक के पूर्वजों के सम्बन्ध में लिखना कुछ अनुचित न होगा।

ईसवीय पन्द्रहवी शताब्दी के लगभग की बात है कि कालू नाम का एक जाट लाहौर के समीप पिंडीभट्टिया नामक गांव में रहता था। उस गांव के लोग चोरी डकैती के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। कालू इन्हीं कुकृत्यों के कारण इन लोगों के विरुद्ध था। उनसे अनबन रहने के कारण वह गांव छोड़ कर अमृतसर के निकट जा बसा। कालू की गर्भवती स्त्री का प्रसव एक लुटेरे सांहसी की झोपड़ी में हुआ। इसलिए उसका नाम जद्दू सांहसी (पक्का लुटेरा) पड़ गया। परन्तु सन् १५१५ के लगभग मार-धाड़ में वह मारा गया। उसका पुत्र गलेबफ़ेलम पशुओं को चुराकर व्या-

पार करता था। उसका पुत्र किदोह बड़े शान्त स्वभाव का था। किदोह की थोड़ी-सी गायें भैंसें थीं। वह गुजरांवाला के नज़दीक सुकरचक गांव में रहने लगा। इसके दो पुत्र थे मेलू और रजादा। सन १६२० के लगभग रजादे का देहान्त हो गया और उसके तीन पुत्रों में से अकेला तख्तमल ही जीवित रहा। तख्तमल ने साहूकारा में खूब रुपया कमाया और उसने सुकरचक की बहुत सी ज़मीन खरीद ली। इसके दो पुत्र थे बोलू और बारा। बारा बड़ा चतुर था। उसने गांव की आधी से भी अधिक भूमि पर अपना अधिकार कर लिया। वह गुजरांवाला में एक सिक्ख का चेला बन गया। बारा ने अपने पुत्र बुडडे (बुद्धासिंह) को भी सिक्ख धर्म की दीक्षा लेने की आज्ञा दी। पिता की मृत्यु के बाद बड़ा होने पर बुडडे ने अमृतसर में सिक्ख धर्म की सन १६९२ में दीक्षा ले ली। पिता की भाँति चतुर पुत्र बुडडे ने भी बड़ी उन्नति की और वह गांव का चौधरी बन गया। एक 'देसी' नाम की चितकबरी घोड़ी इसके पास थी। इस घोड़ी की सहायता से ही बुडडे ने कई बार जेहलम, चनाब, और रावी को पार किया। इसके शरीर पर कई गोलियों के घाव थे तथापि वह बड़ा बलवान था। सन १७१६ में इसका देहान्त हुआ। इसके नौधसिंह और चन्द्रभानसिंह दो पुत्र थे। पिता की मृत्यु के बाद नौधसिंह ने लूट मार के द्वारा बहुत सारी संपत्ति इकट्ठी कर ली। वह एक प्रसिद्ध डाकू था। रावलपिण्डी तथा जम्मू के बीच के प्रान्त में इसकी धाक जम गई। १७३० में नौधसिंह ने मजीठी जाट गुलाबसिंह की लड़की से विवाह कर लिया। इस सम्बन्ध के प्रभाव से वह बड़ा संपत्तिशाली बन गया। इसके चड़तसिंह, दलसिंह, चेतसिंह और नानूसिंह चार पुत्र थे! चड़तसिंह ने अपना एक

अलग जत्था बनाकर गुजरांवाला के आस पास कई गांवों पर अपना अधिकार कर लिया। चढ़तसिंह ने प्रसिद्ध धाड़वी (लूट मार करने वाला) अमीरसिंह से मेल कर लिया। अमीर की मृत्यु के बाद इस दल का मुखिया चढ़तसिंह ही बना। समय पाकर चढ़तसिंह के ऊपर मुसलमान सरदारों ने एक साथ मिलकर आक्रमण किया पर अन्त में वे हार गये। इसी कारण सारे प्रान्त में इसकी धाक जम गई। इसका एक मात्र पुत्र महासिंह था। महासिंह अभी छोटा ही था कि उसके पिता का स्वर्गवास हो गया। इसकी विधवा माता ने पुत्र के कार्य में पर्याप्त सहायता दी। १७७५ में महासिंह ने जींद के राजा की लड़की राजकौर से विवाह किया। इसी का नाम माई मालवाइन था जिसके गर्भ से महाराजा रणजीतसिंह उत्पन्न हुआ। महासिंह ने जम्मू के राजा को धर्मभाई बनाया पर कुछ ही दिनों के बाद उसके गांव लूट लिए। इसके अतिरिक्त कई एक प्रान्तों पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधिकार में कर लिया। सन् १७८७ के उपरान्त इसका देहान्त हो गया।

पिता की मृत्यु के बाद बालक रणजीतसिंह पर सुकरचकिया मिसल का भार आ पड़ा। इनका विवाह बचपन में ही सदाकौर की लड़की महताबकौर से हो चुका था। इसके अतिरिक्त सरदार खज़ानसिंह की पुत्री राजकौर से भी इसका विवाह हुआ था। सुकरचकिया की मिसल का आधिपत्य हाथमें लेने के समय लाहौर का राज्य लहनासिंह,गुज्जरसिंह और सूबासिंह इन तीन सरदारों के अधिकार में था। लहनासिंह, गुजरसिंह और सूबासिंह के मरने के बाद उनके पुत्र लाहौर पर शासन करते रहे। उन दिनों मियाँ आशिक और मीर मुहकमदीन दोनों ही लाहौर के चौधरी समझे

जाते थे। मियाँ आशिक के जँवाई बदरुद्दीन की नगर के हिन्दुओं के साथ खटपट थी। फलतः ब्राह्मण तथा क्षत्रिय सब मिलकर लहनासिंह के पुत्र सरदार चेतसिंह के पास गये। उसने बदरुद्दीन को काल कोठरी में बन्द कर दिया। इस तरह हिन्दू-मुसलमानों में वैमनस्य बढ़ गया और मुसलमानों ने अपना एक दूत रणजीतसिंह के पास भेजा—कि आप यहाँ आ जाँय बाकी प्रबन्ध हम स्वयं कर लेंगे। निमंत्रण पाकर रणजीतसिंह बहुत प्रसन्न हुए और पैदल सेना और कुछ घुड़सवार साथ लेकर वह लाहौर के लिए रवाना हुए। शालामार बाग में उसने डेरा डाल दिया। उसी समय मियाँ आशिक और मीर मुहकमदीन भी उनसे आकर मिले। अगले दिन सवेरे आठ बजे शाह आलमी तथा लोहारी दरवाज़े के रास्ते रणजीतसिंह ने ५ हज़ार सिपाहियों के साथ नगर में प्रवेश किया। इधर चेतसिंह किसी दरवाज़े पर लड़ाई के लिये तय्यार था, किन्तु उसको धोखा दिया गया। रणजीतसिंह किले में घुसना ही चाहता था कि चेतसिंह मुकाबिले पर आ डटा। चौबीस घण्टे तक गोली चलती रही। आखिर चेतसिंह ने अधीनता स्वीकार कर ली। रणजीतसिंह ने सात हज़ार वार्षिक आय की जागीर चेतसिंह को दे दी और लाहौर पर अपना पूर्ण अधिकार कर लिया। लाहौर की विजय से रणजीतसिंह का उत्साह इतना बढ़ गया कि वे सब राज्य-विस्तार की ओर ही लग गये। सिक्ख सिपाही इधर उधर पहाड़ों में छिपकर लूटमार करके माल असबाब प्रायः इकट्ठा किया करते थे। सन् १७९८ में अफ़ग़ानिस्तान के शाह ज़मान दुर्रानी ने पंजाब पर आक्रमण किया। सिक्खों ने गुरु-द्वार पर खूब लूटमार की। ज़मान दुर्रानी तंग आकर अफ़ग़ानिस्तान

वापिस लौट गया और सहानची खाँ को १२ हज़ार सेना के साथ पंजाब में अपना प्रतिनिधि बना कर छोड़ गया। सिक्खों ने जेहलम तक उसका पीछा किया। बाद में सहानची खाँ भी मारा गया। फिर क्या था उपयुक्त समय जानकर अफ़गानों द्वारा अधिकृत स्थानों पर रणजीतसिंह ने अपना अधिकार जमा लिया। राज्य-वृद्धि की ओर ध्यान देते हुए सन् १८०० में रणजीतसिंह ने जम्मू पर चढ़ाई की पर जम्मू के राजा ने संधि कर ली। फिर उसने इधर उधर के प्रान्तों पर विजय प्राप्त करके लाहौर को प्रस्थान किया। १८०१ में रणजीतसिंह ने लाहौर में एक दरबार कर वैशाखी को महाराजा की पदवी धारण की और नानक देव के नाम का सिक्का चलाया। महाराजा बनने पर रणजीतसिंह चुप नहीं रहा उसने कई हज़ार सैनिकों सहित गुजरात पर चढ़ाई कर दी। परन्तु अकालगढ़ वाले साहिबसिंह और दलसिंह ने संधि कर ली। फिर कसूर के नवाब की बारी आई। उसने भी सफेद झंडा दिखाकर संधि कर ली। सन् १८०२ में राजकौर के गर्भ से महाराज के एक पुत्र-रत्न उत्पन्न होने पर बड़ी खुशी मनाई गई। पुत्र का नाम खड्ग-सिंह रखा गया। इन्हीं दिनों अमृतसर के सरदारों ने रणजीतसिंह के विरुद्ध आक्रमण करने का विचार किया, किन्तु समाचार पाकर रणजीत ने अमृतसर पर चढ़ाई कर दी। पर घमासान लड़ाई हुए बिना ही दोनों दलों का आपस में समझौता हो गया। अमृतसर के भंगी (भाँग पीने वाले) सरदारों को जागीर दे दी गई और वहाँ भी रणजीतसिंह का अधिकार हो गया। वहां से उन्हें भङ्गियों की तोप हाथ आई जो कि आजकल भी लाहौर के अजायब घर के पास रखी हुई है।

दूरदर्शी महाराजा ने अपने कुछ वीरों को गुप्त रूप से अंग्रेज़ी

सेना में भर्ती करा दिया जिससे वे फौजी शिक्षा पाकर उनके सिपाहियों को अंग्रेजी ढंग की शिक्षा दे सकें। कसूर की लड़ाई में महाराजा को अहमदखाँ स्याल से १२००० रुपया वार्षिक मिलने लगा। अब रणजीतसिंह का आतङ्क सारे पंजाब में छा गया। इसलिए कई छोटे-छोटे राजा इनसे सहायता भी माँगते थे। जैसे गोरखों के आक्रमण करने पर कांगड़े के राजा संसारचन्द की उन्होंने खूब सहायता की। नाभा और पटियाला के राजाओं में एक गांव के लिए झगड़ा हो गया था। महाराजा ने अपनी बुद्धिमत्ता से उन दोनों का समझौता करा दिया। सन् १८०७ में कसूर के नवाब ने फिर से चढ़ाई कर दी। परन्तु घमासान की लड़ाई के उपरान्त नवाब भाग गया। उसके पकड़े जाने पर उसको कुछ जागीर देकर कसूर पर महाराज ने अपना अधिकार कर लिया। १८०८ में महाराज ने पठानकोट, जसरोटा चंबा आदि इलाके भी अपने अधिकार में कर लिये। बाद में स्यालकोट भी अपने राज्य में मिला लिया गया। महाराज के बढ़ते हुए प्रभाव को देख कर सतलुज और यमुना के मध्यवर्ती सिक्ख सरदारों का एक डेपुटेशन अंग्रेजों से मिला। उनसे सहायता एवं संरक्षण की प्रार्थना की। किन्तु रणजीतसिंह ने उन सभी सिक्खों को बुलाकर उन्हें आश्वासन दिया कि तुम्हें मुझ से किसी प्रकार का भय न करो और अंग्रेजों से मिलना छोड़ दो। उधर रणजीतसिंह की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर अंग्रेजों ने एक दूत उनके दरबार में रखना उचित समझ कर सर चार्ल्स मेटकाफ को वहाँ भेजा। महाराज ने दूत का अच्छी भाँति स्वागत किया पर सतलुज विषय पर कोई समझौता नहीं की। महाराजा ने अपनी सेना सहित कसूर और कसूर से फरीदकोट की ओर प्रस्थान किया। [illegible]

भी फरीदकोट पहुँचा और उसने महाराजा को एक पत्र लिखा कि सतलुज के प्रदेशों पर आप अधिकार न करें। परन्तु उसकी बात न मानकर रणजीतसिंह अम्बाला की ओर बढ़ता गया। इस प्रकार बढ़ते हुए पंजाब-केसरी को देखकर अंग्रेज़ों ने अपने दूत द्वारा कहला भेजा कि यमुना और सतुलज का प्रदेश अंग्रेजोंकी संरक्षता में हैं अतः विजित प्रदेश लौटाना पड़ेगा। अंग्रेजों ने एक रिसाला भी आक्टर लोनी की अध्यक्षता में भेज दिया वह बढ़ता हुआ लुधियाना तक जा पहुँचा। वास्तव में रणजीतसिंह भी अंग्रेजों से लड़ना नहीं चाहता था। जिन दिनों मेटकाफ़ अमृतसर में रहता था उसके अंगरक्षक मुसलमानों का ताजिए का घोड़ा शहर में बड़ी धूम-धाम से निकला इस पर अकाली तथा मुसलमानों में परस्पर लड़ाई हो गई। परन्तु रणजीतसिंह ने बीच में पड़कर समझौता करा दिया। अंग्रेज़ों को बढ़ने का मौका मिल रहा था किन्तु १५ एप्रिल १८०६ को अंग्रेजों और महाराजा में परस्पर संधि हो गई। संधि की शर्तों का आशय यह था कि सतलुज नदी तक सिख राज्य की सीना समझी जायेगी और सतलुज नदी के दूसरी ओर तक अंगरेज़ी सीमा निश्चित की गई। अनधिकार चेष्टा करने पर संधि भंग समझी जायेगी इत्यादि। सन् १८०६ के दरम्यान गोरखों ने कांगड़ा पर फिर चढ़ाई कर दी परन्तु महाराजा ने कांगड़े में पहुँच कर राजा संसारचन्द्र की पर्याप्त सहायता की। अन्त में सिक्खों की ही जीत हुई और कांगड़ा का सारा राज्य भी इनके हाथ में आगया।

जब कोई जाति ऊपर की ओर उठती है तो उसे चुप बैठना नसीब नहीं होता। उसे कई मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। यही हाल रणजीतसिंह का था। कुछ ही दिनों के बाद मुलतान

के नवाब ने राज-कर देना बन्द कर दिया। अब उसके साथ लड़ने के लिए रणजीतसिंह को फिर बाध्य होना पड़ा। इस बार स्वयं महाराजा ने उस पर चढ़ाई की। तुमुल संग्राम के बाद मुलतान का नवाब हार गया और मुलतान का प्रान्त भी अपने राज्य में मिला लिया।

राज्य-प्राप्ति के अतिरिक्त महाराजा रणजीतसिंह को जगत्प्रसिद्ध कोहेनूर हीरे की प्राप्ति भी हुई। यद्यपि इस हीरे के पाने के लिए उनको काश्मीर नरेश से भी लड़ना पड़ा। महाराजा के प्रखर प्रताप और युद्ध-वीरता के कारण विजय इनको ही प्राप्त हुई। सन् १८१२ में शाहज़मान और शाहशुजा (काबुल के दो राजा) जब परिवार सहित लाहौर की ओर आ रहे थे तो अटक के गवर्नर ने शाहशुजा को रास्ते में ही कैद करके अपने भाई अत्ता-मुहम्मदखाँ गवर्नर काश्मीर के पास भेज दिया। उसका सारा परिवार दुःखी होकर लाहौर रणजीतसिंह की शरण में आया, महाराजा ने सत्कार-पूर्वक इनकी सेवा की। शाहशुजा की बेगम ने रणजीतसिंह के पास कहला भेजा कि यदि आप मेरे पति को छुड़ा दें तो आपको कोहेनूर नामक हीरा भेंट करूँगी। इन्हीं दिनों काबुल-नरेश ने भी काश्मीर गवर्नर के विरुद्ध लड़ने के लिये महाराजा से सहायता माँगी। शरणार्थियों की रक्षा तथा काबुल नरेश की प्रार्थना स्वीकार कर महाराजा रणजीतसिंह अत्ता-मुहम्मद खाँ के विरुद्ध लड़ने को तैयार हो गये। सिक्ख-सेना काश्मीर की ओर बढ़ी। काबुल की सेना ने भी इसके साथ मिल कर अत्तामुहम्मद का सामना किया। भयंकर संग्राम के पश्चात् सिक्खों की जीत हुई, किले पर उनका अधिकार हो गया। शाह-शुजा को कारागार से छुड़ा लिया गया। लाहौर वापिस आने पर

उसकी बेगम ने कोहेनूर हीरा महाराजा की सेवा में भेंट करदिया। यह हीरा दिलीपसिंह तक सिक्खों के पास ही रहा। फिर सिक्ख-राज्य के डाँवाडोल होने पर १० मार्च १८४६ को अंगरेज़ी सरकार के हाथ चला गया।

अफ़ग़ानिस्तान के लुटेरे पठानों को रोकने के लिये महाराजा ने अटक पर भी अपना अधिकार कर लिया। इस प्रकार दिन प्रति-दिन उनकी राज्य-वृद्धि होती ही गई।

महाराजा ने सन् १८१६ में वैशाखी के दिन बड़ी धूम-धाम से राजकुमार खड्गसिंह को युवराज बनाया। कुमार खड्गसिंह के युवराज बन जाने पर महाराज को बड़ी सहायता मिली। छोटी-मोटी लड़ाइयों में वे प्रायः युवराज को ही भेजा करते। सन् १८१८ में २५००० सेना-सहित युवराज खड्गसिंह ने मुलतान के नवाब मुज़फ़्फ़रखां पर चढ़ाई की। इस युद्ध में अकाली सरदार फूलासिंह ने भी कुमार को बहुत सहायता दी। इधर काश्मीर में भी अफ़ग़ान शासक के अत्याचार दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे थे। इसलिये काश्मीर के एक प्रसिद्ध पण्डित बीरबर ने किसी तरह लाहौर आकर महाराजा के सामने काश्मीर के अत्याचारों का वर्णन किया। सारी कहानी को सुनकर महाराजा ने काश्मीर के अत्याचारी को समूल नष्ट करने की प्रतिज्ञा की। उधर जब मुहम्मद अजीमखाँ को पता लगा कि बीरबर लाहौर गया है तो उसने उसके परिवार को बुरी तरह से तंग करना शुरू कर दिया। परन्तु काश्मीरियों के कष्ट निवारण करने के लिये रणजीतसिंह ने सन् १८१६ में ३०००० सेना के साथ काश्मीर की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में राजौढ़ी, पुंछ आदि रियासतों को स्वाधीन करते हुए सिख-सेना के सेनापति सोपियाँ के क्षेत्र में जा पहुँचे। काश्मीर-नरेश भी युद्ध की तय्यारी

कर रहा था। फिर क्या था ३ जुलाई १८१६ को दोनों दलों में युद्ध छिड़ गया। आखिर सिक्ख सेना की विजय हुई। इस युद्ध में कई वीर अफ़गान मारे गये। मुहम्मद जब्बारखाँ अफगानिस्तान की ओर भाग गया। ४ जुलाई को श्रीनगर में सिक्ख-सेना ने प्रवेश कर सारे नगर में घोषणा कर दी कि भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं। सिक्ख-सेना सबके प्राणों और धन-सम्पत्ति की रक्षा करेगी।

महाराजा ने काश्मीर का प्रबन्ध करने के लिये प्रथम मोतीराम दीवान को नियुक्त किया, फिर सरदार हरिसिंह नलवा को। नलवे ने बड़ी कुशलता से शासन-प्रबन्ध किया। काश्मीर में इनके नाम का सिक्का भी चला। अफ़गानों ने काश्मीर के बहुत से मन्दिर तोड़कर उनकी जगह मसजिदें बना दी थीं। इस दृश्य को देखकर हरिसिंह ने चाहा कि मसजिदों को तोड़कर उनके स्थान पर फिर मन्दिर बनवा दिये जायं। इस लिये इन्होंने मौलवियों और पण्डितों की एक सभा बुलाई। परन्तु डरपोक पण्डितों ने नलवा को ऐसा करने से मना कर दिया।

महाराजा रणजीतसिंह का जन्म तो मानो लड़ाइयाँ करने के लिये ही हुआ था। राज्य-विस्तार की लालसा से इन्होंने अटक नदी के आसपास मुंगेर पर भी चढ़ाई कर दी। इस चढ़ाई में प्रमुख सरदार ये थे—सरदार दलसिंह, सरदार खुशालसिंह, दीवानचन्द, कृपाराम और हरिसिंह। चार दिन घमासान युद्ध हुआ। पाँचवें दिन सिक्ख सेना ने नगर पर अधिकार कर लिया। उधर काबुल के नरेश मुहम्मद अजीमखाँ को बड़ी चिन्ता हुई जबकि मुलतान, काश्मीर, मुंगेर, इलाका उनके हाथ से निकल गया। सिक्खों से बदला लेने के लिये मुहम्मद अजीमखाँ

सैनिक तय्यारी करने लगा और काबुल से पेशावर तक पहुँच गया। इधर महाराजा ने भी सैनिक तय्यारी कर ली थी। आखिर नौशहरे के मैदान में युद्ध ठन गया। हरिसिंह और शेरसिंह लड़ाई में पूरी तरह से जुटे हुए थे पीछे से २५००० सिख-सेना सहायता के लिये पहुँच गई।

तुमुल युद्ध के बाद अफ़गान भाग गये। अजीमखाँ ने भी बड़ी कठिनता से अपनी जान बचाई। इस प्रकार पेशावर के सारे प्रान्त पर सिक्खों का अधिकार हो गया। जो पेशावर पहले पञ्जाब से अलग कर दिया गया था वह अब फिर पञ्जाब में मिला लिया गया और हरिसिंह नलवा को यहाँ का शासक नियुक्त किया गया।

इधर महाराजा साहिब अटक के पार राज्य-विस्तार में लगे थे। इसलिये उन्होंने यह उचित समझा कि अफ़गानी प्रदेश पर चढ़ाई करने से पूर्व अंगरेज़ों से संधि कर ली जाय। इस उद्देश्य से हरिसिंह नलवा की अध्यक्षता में एक डेपूटेशन लार्ड विलियम बैण्टिङ्ग के पास शिमला भेजा। अंगरेज़ों ने इनका खूब स्वागत किया। आखिर महाराजा साहिब से मिलने का वायदा कर लार्ड ने सिख सरदारों को लाहौर भेज दिया। फिर २५ अक्टूबर सन् १८३१ को महाराजा साहिब स्वयं लार्ड विलियम बैण्टिङ्ग से मिलने रोपड़ पहुँचे। इस भेंटमें परस्पर अनेक राजनीतिक समझौते हुए और एक संधिपत्र भी लिखा गया जिसमें अटक के मार्ग का विशेष उल्लेख था। इसी समय महाराजा ने खड़गसिंह को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। इन्हीं दिनों खड्गसिंह के पुत्र नौनिहालसिंह की सगाई सरदार श्यामसिंह अटारी वाले की पुत्री कुमारी नानकी देवी से हुई।

कुछ साल अमन-चैन के बाद महाराजा के प्रसिद्ध सेनापति सरदार हरिसिंह ने काबुली अफ़गानों के आक्रमणों को रोकने के लिये खैबर दर्रा के निकट जमरोद नामक स्थान पर एक बड़ा भारी किला बनवाया और हज़ारा के सरदार महासिंह को इस किले का रक्षक नियुक्त किया। उधर काबुल का शासक इस नाकेबंदी को देखकर घबराया और सैनिक तय्यारी करके कुछ ही दिनों में वह जमरोद पहुँच गया। अफग़ानों की ओर से किले पर गोलियों की बौछार होनी आरम्भ हो गई। किलेदार महासिंह ने भी अफ़गानी आक्रमण को रोकने के लिये गोलावृष्टि आरम्भ कर दी। अफ़गानों की संख्या अधिक थी और सिखों की बहुत कम। अफ़गानों ने किले के बाहर चारों ओर घेरा डाल दिया। सरदार महासिंह ने सरदार हरिसिंह के नाम एक पत्र लिखकर उनसे तत्काल ही सहायता माँगी। इस पत्र को पेशावर तक पहुँचाने वाली एक वीर स्त्री थी। पत्र पाते ही हरिसिंह ने सहायता के लिये सेना भेज कर तुरन्त महाराजा के पास भी खबर भिजवा दी।

सरदार हरिसिंह इसी युद्धमें वीरगति को प्राप्त हुए। सचमुच हरिसिंह महाराज का दाहिना हाथ था। कहते हैं कि पञ्जाब-केसरी ने जब यह समाचार सुना तो रोते हुए कहने लगे कि सिक्ख राज्य का एक बड़ा भारी स्तम्भ टूट गया। पश्चाताप के बाद महाराज ने सेना-सहित पेशावर की ओर प्रस्थान किया, किन्तु उनके वहाँ पहुँचते २ अफग़ान रण-क्षेत्र छोड़कर भाग चुके थे। सन् १८३७ में जब अंग्रेजों को रूस का भय दीखने लगा तो उन्होंने महाराजा के साथ मिलकर पहिले काबुल पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। साथ ही यह भी तय हुआ कि काबुल के अमीर दोस्तमुहम्मद को गद्दी से उतार कर उसके स्थान पर शाहशुजा को अमीर बनाया जाय। निदान परस्पर

हुई बातचीत के अनुसार कुछ शर्तें भी लिखी गई। सन्धि के अनुसार दोनों दलों ने मिलकर २ जनवरी १८३६ को काबुल की ओर प्रस्थान किया। आखिर शाहशुजा को गद्दी पर बिठा ही दिया। इस तरह काबुल तक महाराजा की धाक जम गई।

महाराजा रणजीतसिंह ने अपने बाहु-बल के प्रताप से सारे पञ्जाब में ही नहीं बल्कि काबुल तक अपना राज्य स्थापित कर लिया। यद्यपि उनके राज्य-काल से पूर्व भी पञ्जाब का अधिकांश भाग सिक्खों के ही हाथ में था और उनके १०-१२ जत्थे भी थे। उन जत्थों का पृथक २ एक मुखिया होता था। वे लूट-मार कर जो कुछ पाते आपस में बांट लेते थे। परन्तु प्रतापी रणजीत ने अपने भुज-बल से सब पर अपना एकाधिकार जमा कर एक छत्र राज्य स्थापित कर लिया! सेना को विस्तृत रूप देकर उसे उचित सैनिक-शिक्षा दी गई। महाराजा ने अपने सारे राज्य को लाहौर, मुलतान, काश्मीर, और पेशावर इन चार प्रान्तों में बाँट कर सारे प्रान्तों को भी परगनों में और परगनों को तहसीलों में विभक्त कर दिया था। जिससे राज्य का प्रबन्ध उचित रीति से चल सके। किसानों से कर लेने की रीति भी इनकी विलक्षण थी। दीन-अनाथों की तथा विधवाओं की सहायता के लिए राज्य की ओर से सहायक-कोष खुले हुए थे। कोई साहूकार किसी किसान का बैल हल तथा खेती करने की वस्तुओं को कुर्क नहीं करा सकता था। यदि कोई राज कर्मचारी किसी को अनुचित दुःख देता तो महाराज भली-भाँति जाँच कर अपराधी को कठोर दण्ड देते थे। महाराज अपने कर्मचारियों को अधिक से अधिक वेतन देते थे ताकि उन्हें प्रजा से घूस खाने की आवश्यकता ही न पड़े।

अधिकृत प्रदेशों को वश में रखने के लिए स्थान २ पर ५० से

अधिक छावनियाँ स्थापित कीं। महाराजा पढ़े-लिखे तो नहीं थे। किन्तु तीक्ष्ण बुद्धि होने के कारण गूढ़ से गूढ़ विषय को भी तत्क्षण भाँप जाते थे। इनका इतना आतङ्क था कि बड़े२ मंत्री भी इनसे थर२ काँपते थे। इसके अतिरिक्त इनकी धर्म पर बड़ी श्रद्धा थी, प्रायः प्रतिदिन ग्रन्थ साहब का पाठ सुना करते थे। तीर्थों, धार्मिक स्थानों और साधु महात्माओं का भी बड़ा सम्मान करते थे। रणजीतसिंह में अभिमान तो लेशमात्र को भी न था। ये अपने वचन के इतने पक्के थे कि जिस बात को एक बार मुख से कह देते उसे पूरा करने में सिर-धड़ की बाज़ी लगा देते थे। इन में एक बड़ी भारी विशेषता थी कि यह सभी धर्मों को एक दृष्टि से देखते थे। राज्य के ऊँचे२ पदों पर हिन्दु, मुसलमान और सिक्ख सभी को नियुक्त कर रखा था। कुछ भी हो इतिहास के पृष्ठों पर महाराजा रणजीतसिंह का चरित्र स्वर्णाक्षरों में लिखा गया है।

सन् १८३९ में गवर्नर जनरल लार्ड आकलैण्ड महाराजा से मिलने लाहौर आये। मिलने का स्थान शालामारबाग नियत हुआ। कई दिनों तक नाच-गान और मदिरा-पान होता रहा। एक दिन जब महाराजा गवर्नर जनरल को शराब का प्याला दे रहे थे तो एकाएक उनका शरीर काँपने लगा और वे कुरसी से नीचे लुढ़क गये, आँखें पथरा गईं और मुँह से झाग बहने लगी। तत्क्षण महाराज को राज-भवन में लाया गया। जब उनके जीने की कोई आशा न रही तो खड्गसिंह को राजतिलक दे कर उसे राजा ध्यानसिंह के सुपुर्द कर दिया। अन्त में २७ जून १८३९ को महाराजा इस लोक को छोड़ कर स्वर्ग सिधार गये। उस समय उनकी अवस्था लगभग ५८ वर्ष की थी। उनकी मृत्यु के कुछ वर्ष पश्चात् पञ्जाब का भाग्य-सूर्य भी सदा के लिए अस्त हो गया।

महाराजा की मृत्यु को सुनते ही अन्तःपुर में हाहाकार मच गया। महाराज की सोलह रानियाँ थीं। उनमें से चार रानियों और सात दासियों ने महाराजा के शव के साथ सती होना निश्चित किया। बड़ी लम्बी चौड़ी एक चन्दन की चिता बनाई गई। महाराज की छाती पर श्रीमद्भगवद्गीता रखी गई। बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण गरीबों को बाँट कर अन्त्येष्टि-क्रिया विधिवत् की गई। दो दिन तक चिता जलती रही। तीसरे दिन अस्थियां (फूल) चुनकर हरिद्वार भेजी गईं।

महाराजा के खड्गसिंह के अतिरिक्त शेरसिंह, तारासिंह, मुलतानसिंह, काश्मीरासिंह, पिशौरासिंह और दिलीपसिंह नाम के ६ पुत्र थे। महाराजा की मृत्यु के बाद खड्गसिंह गद्दी पर बैठा किन्तु कुँवर नौनिहालसिंह ने राजा ध्यानसिंह से मिलकर उसे ज़हर दे दिया और ५ नवम्बर सन् १८४० को उसका देहान्त हो गया। जब अपने पिता का दाह-संस्कार करके नौनिहालसिंह लौट रहा था तो सिर पर दरवाज़ा गिर जाने से उसकी भी मृत्यु हो गई। सन् १८४१ में शेरसिंह गद्दी पर बैठा, परन्तु राजा ध्यानसिंह से अनबन हो जाने पर इसकी भी हत्या करवा दी गई। बाद में राजा ध्यानसिंह की भी किसी ने हत्या कर दी। शेरसिंह की मृत्यु के बाद दिलीपसिंह गद्दी पर बैठा परन्तु सिक्खों की दूसरी लड़ाई सन् १८४९ में उसे भी गद्दी से उतार दिया गया। सन् १८५३ में दिलीपसिंह ईसाई हो गया तो एक वर्ष के बाद अंगरेज़ों ने उसे इंगलैण्ड भेज दिया।

महाराजा का भाग्य-सूर्य जिस प्रकार पञ्जाब में एकदम चमका था उनकी मृत्यु के बाद उसी तरह अस्त भी हो गया। उनके पुत्रों में

अपने पिता की सी शक्ति नाम मात्र को भी न थी। यहां तक कि दिलीपसिंह ने तो अपने धर्म को भी तिलाञ्जलि दे दी। जनवरी सन् १८५७ को जब दिलीपसिंह भारत लौटा तो कलकत्ता के जिस होटल में वह ठहरा वहां उनके दर्शनार्थ सिक्खों का बहुत सा जमघट एकत्र हो गया। क्रान्ति के भय से लार्ड केनिङ्ग ने उनको विलायत वापिस लौट जाने की आज्ञा दे दी। सन् १८६२ में पैरिस के एक होटल में दिलीपसिंह का देहान्त हो गया। इनके कई बेटे बेटियाँ हुईं पर उनका इतिहास में कोई विशेष स्थान नहीं। उनकी दो पुत्रियाँ अभी तक भी जीवित हैं। जिन्होंने सिख धर्म छोड़ कर ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया हुआ है। यद्यपि महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके वंश का नाम नहीं के बराबर ही रहा पर अकेले ही महाराजा की कीर्ति दिग् दिगन्तों तक फैली हुई है। धन्य है वह माता और पिता जिनके घर ऐसा वीर बाँकुरा-लाल पैदा हुआ।

इस प्रकार संक्षेप से पञ्जाब-केसरी महाराजा रणजीतसिंह का चरित्र पढ़ने के बाद हम पाठकों का ध्यान महाराजा की कुछ विशेषताओं की ओर ले जाना चाहते हैं। महाराजा रणजीतसिंह बड़े उद्यमी साहसी निर्भीक, दयालु, दुष्टों के लिए कठोर और न्याय-प्रिय थे। इतने बड़े राजा होने पर भी इनका जीवन बहुत सादा था। जङ्गली पशुओं का शिकार खेलने में इन्हें बड़ा आनन्द आता था। यह चौबीसों घंटे सावधान रहते थे। आलस्य का तो इनमें नामों निशान तक न था। ये रात को सोते समय तलवार अपने सिर-हाने रखते थे। अपने राज्य की रक्षा के लिए इतने सतर्क रहते थे कि अपने नौकरों को इनकी ओर से यह आज्ञा थी—एक बढ़िया घोड़ा प्रतिदिन कसा-कसाया हर वक्त रात को भी तयार रहे।

न जाने कब कैसी आवश्यकता पड़ जाय। इसलिए महाराजा के विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि—

सदा ही कमर कसी हुई देखी, कभी न सुस्ती मुख पर पेखी।

शिक्षित न होने पर भी पढ़े-लिखों की भाँति राजनीति के अनुसार धर्म-पूर्वक शासन-कार्य वर्षोंतक चलाते रहे। लेफ्टिनेंट प्रिंस ने महाराज़ा के विषय में यों लिखा है-"महाराजा से मिलनेके बाद मेरी यह भावना निश्चित हुई की वह सचमुच ही ऊँचे विचारों का मनुष्य है। वह अशिक्षित होने पर भी राज-काज बड़ी योग्यता से करता है। आजतक ऐसा कोई भारतीय राजा मैंने नहीं देखा। महाराजा ने जब यह देखा कि बिना ड्रिल के सेना भली-भाँति नहीं लड़ सकती तो फ्रांसीसियों को नौकर रखकर अपनी सेना को ड्रिल में सिद्ध-हस्त बना दिया। इसी से उसकी सेना अन्य भारतीय सेनाओं से अच्छी है।" रणजीतसिंह धार्मिक बातों में बहुत उदार था। हिन्दू मुसलमानों से समानता का बर्ताव करता था। सबसे बड़ी विशेषता इसमें यह थी कि यह मनुष्यों की परख भली-भाँति करना जानता था। कौनसा व्यक्ति किस काम के योग्य है तथा किस काम को करने में किस की सामर्थ है। जिस समय रणजीत सिंह समझते कि यह काम मुझ से न हो सकेगा तो वहाँ वह ऐसा कदम न उठाते जिससे उन्हें हार खानी पड़े। जब वह सतलुज नदी के पार अपना राज्य बढ़ाना चाहता था तो उन्होंने इस बात को झटसे भाँप लिया कि सतलुजके पार के राजा अंगरेजोंके मित्र हैं। इसलिये गवर्नर जनरल से रणजीतसिंह ने संधि कर ली और जीवन पर्यन्त उस संधि को निभाया।

महाराजा रणजीतसिंह कर्ण और बलि के समान दानी थे। यहां तक कि अधिक दान-शील होने के कारण इनको लोग

पारसमणि कहने लगे थे। एक समय की बात है कि जब महाराजा रणजीतसिंह लाहौर की ओर जा रहे थे तो एक बूढ़ी स्त्री जिसके हाथ में एक लोहे का तवा था भीड़ को चीरती हुई आगे बढ़ी। सिपाहियों ने उसे बहुत रोका, परन्तु वह महाराज के पास जाकर ही रुकी। महाराजा ने पूछा, माई? तू कहाँ दौड़ी जा रही है? वृद्धा ने उत्तर दिया—महाराज मैं ग़रीब स्त्री हूँ। मेरे पास खाने को कुछ नहीं है। मैंने सुना है आप पारसमणि हैं आपके साथ छू जाने से लोहा सोना होजाता है। इसलिए मैं अपने लोहे का तवा आपसे छुवा रही हूँ। महाराज रणजीत बड़े उदार-हृदय व्यक्ति थे। उन्होंने उसे तवे के बराबर का सोना अपने कोष से दिलवा दिया। इस प्रकार दान-पुण्य करने में भी वे बहुत बढ़े-चढ़े थे। लाख दो लाख की तो बात ही नहीं, कभी कभी करोड़ों तक दान कर देते थे। ऐसी किंवदन्ती है कि इन्होंने मृत्यु के दिन लगभग एक अर्ब रुपया तक दान कर डाला था। महाराजा रणजीत सिंह अपने समय में भारतवर्ष का सबसे बड़ा राजा गिना जाता था। उसके जन्म-काल से पहले पंजाब में अराजकता फैली हुई थी। लोग आपस में लड़ रहे थे। रणजीतसिंह ने बहुत से छोटे-छोटे रजवाड़ों को संयुक्त करके एक राज्य बनाया। अपनी सेना को नियमपूर्वक युद्ध-शिक्षा दी। विक्टर जैकमॉन्ट नामक एक यात्री लिखता है—"रणजीतसिंह एक असाधारण व्यक्ति था छोटे पैमाने पर हम इन्हें बोनापार्ट कह सकते हैं। सर्वतोमुखी प्रतिभा, धार्मिक और अद्भुत सहिष्णुता तथा शासन के प्रबन्ध की योग्यता में यह अकबर के समान था। इनका डील-डौल छोटा ही था। अपने पहनने के वस्त्रों पर वे विशेष ध्यान नहीं देते थे। इनके चेहरे पर झुर्रियाँ तथा चेचक के दाग थे। परन्तु इतने पर भी इनका प्रभाव

इतना अधिक था कि सारे दरबारी थर-थर काँपते थे। रणजीत-सिंह किसानों से उतना कर लेता था जितना कि आसानी से वे दे सकें। इसके राज्यकाल से पहिले लूटमार, मारधाड़ का बहुत ज़ोर था। पर इसने अपने बाहु-बल से लूटमारको पूर्णरूप से दबा दिया। किसान और मज़दूर सदैव उनसे प्रसन्न रहते थे। इसमें एक बड़ी विशेषता यह थी कि राज्य के छोटे-बड़े सारे कार्यों की अपनी आँखों से देख-रेख करता। अपने राज्य के कर्मचारियों पर बड़ी कड़ी निगाह रखना इसके राज्य-प्रबन्ध का एक आवश्यक अङ्ग था। यदि कोई अधिकारी प्रजा को दुखी करता तो उसकी लगे हाथों यह खूब ख़बर लेता था। यदि दुर्भाग्य-वश अकाल पड़ जाता तो वह किसानों से कर लेना बन्द कर देता था। अपने अन्न-भण्डार से ग़रीबों को अन्न बाँटता था।"

इसके दरबार में जातीय पक्षपात न था। यह हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख सभी का उचित सम्मान करता था। न्याय-प्रिय राजा सब का श्रद्धा-भाजन होता है। यह अपनी न्याय की तलवार से बड़े-बड़ों को परास्त कर देते था। अपने घनिष्ट मित्रों द्वारा किये गये अन्याय को भी यह सहन नहीं करता था।

सरदार हुकुमसिंह चिमनी महाराजा के घनिष्ठ मित्र थे। उसने अपने व्यक्तिगत द्वेष के कारण सैयदखाँ नामक एक व्यक्ति को जान से मरवा डाला। महाराजा रणजीतसिंह को जब इस बात का पता चला कि सैयदखाँ की मृत्यु व्यक्तिगत विद्वेष के कारण हुई है तो उन्होंने एक लाख पचीस हज़ार रुपया जुर्माना हुकुमसिंह से लेकर सैयदखाँ के परिवार वालों को दिलवा दिया और हुकुम-सिंह को सेनापति के पद से च्युत कर दिया। सभी जाति के लोगों को वे एक दृष्टि से देखते थे। हिन्दू-मुसलमानों का भेद-

भाव तो मानों यह जानते ही न थे।

इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि एक हिन्दू राजा होते हुए भी इनका प्रधान मंत्री बुखारा-निवासी फकीर अज़ीज़ुद्दीन था। सभी महत्त्व-पूर्ण अवसरों पर महाराजा उसकी सलाह लिया करते थे। अज़ीज़ुद्दीन सूफी संप्रदाय को मानने वाला अरबी फारसी का एक बड़ा भारी विद्वान् था और साथ ही एक अद्वितीय चिकित्सक भी। इसलिए उसकी प्रेरणा से महाराजा ने सरकारी खर्च पर एक बड़ा भारी चिकित्सालय तथा उसकी छोटी छोटी शाखायें बड़े-बड़े नगरों में स्थापित करवा दी थीं। इनमें रोगियों की चिकित्सा बिना पैसे के होती थी। इन चिकित्सालयों के प्रबन्ध के लिए हकीम नूरुद्दीन और डाक्टर हनिङ्ग बगर नियुक्त किये हुए थे। इस प्रतापी एवं प्रजा-हितैषी राजा ने अपनी प्रजा के लिए जितना हो सका सुख पहुँचाने का प्रयत्न किया। इन्होंने अपने बाहुबल से ही इतना बड़ा राज्य स्थापित किया। क्योंकि इनके पिता के आधीन तो थोड़े से ही गांव थे। इन्होंने उत्तर में तिब्बत उत्तर पश्चिम में हिन्दुकुश, दक्षिण पश्चिम में शिकारपुर सिंध और पूर्व में सतलुज तक अपने राज्य का विस्तार किया। इनके राज्य का क्षेत्रफल लगभग एक लाख पैंतालीस हज़ार वर्गमील था। तथा वार्षिक आमदनी तीन करोड़ दो लाख पिचहत्तर हज़ार रु० लगभग थी। अपने जीवन में इतनी उन्नति अन्य किसी राजा ने नहीं की। बड़ी २ कठिन समस्याओं को सुलझाना इनके बायें हाथ का खेल था। जिन राजनीति के दांव-पेचों को आजकल के बड़े-बड़े उपाधि-धारी भी हल नहीं कर सकते, महाराजा अपनी प्राकृतिक अपूर्व प्रतिभा से उनको क्षण भर में सुलझा देते थे। सर्वशक्तिमान होते हुए भी ये बड़े दयाशील थे।

बड़े-बड़े अपराधियों का भी कभी अङ्ग-भङ्ग नहीं करवाते थे। हाँ अधिक से अधिक अत्याचार करने वाले को मृत्यु दण्ड दे देते थे। महाराजा रणजीतसिंह इस बात को भली-भान्ति जानते थे कि दरबारी लोग किसी साधारण व्यक्ति को राज-दरबार में प्रविष्ट नहीं होने देते। इसलिए इन्होंने अपनी प्रजा की वास्तविक अवस्था को जानने के लिए अपने महल के आगे एक सन्दूक रखवा रक्खा था. लोग अपने कष्टों की बात लिखकर उस सन्दूक में डाल देते थे। महाराजा उस सन्दूक को अपने सामने स्वयं खुलवाते और सब प्रार्थनापत्रों को निकलवा कर फिर बन्द करवा देते। फिर सब प्रार्थियों को बुलाकर न्याय-पूर्वक उनके कष्टों को दूर करते। समय मिलने पर अपने धर्म-ग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थ साहब' का पाठ सुना करते और गुरुद्वारों की सहायता के लिये पर्याप्त मात्रा में धन भी दिया करते थे। हिन्दू राजा होने के नाते उन्होंने हिन्दुओं की सभ्यता तथा संस्कृति का बहुत संरक्षण किया। शरणागत-वत्सलता इनमें अधिक मात्रामें पाई जाती है। इन्होंने जब काश्मीर के अत्याचारों का वर्णन सुना तो इनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली। तत्काल ही अपने दरबारियों से परामर्श करके काश्मीर-विजय करनेके लिये चल पड़े। महाराजा तो मार्गमें रहे किन्तु इनके वीर सेनानी हरिसिंह नलवा ने काश्मीर में विजय प्राप्त करली। महाराजा को इस बात की बड़ी प्रसन्नता हुई की अत्याचारी मुगलों के चंगुल से काश्मीरी प्रजा का छुटकारा हो गया। इस खुशी के उपलक्षमें वे गुरु-नगरी अमृतसर जापहुँचे। वहाँ इन्होंने अकाल पुरुष के चरणों में सिर झुकाया और सवा लाख रुपया दरबार साहब के भेंट किया। ये सदा ही ईश्वर में आस्तिक भावना रखते थे। हिन्दू तीर्थों और साधु महात्माओं पर भी इन

की बड़ी आस्था थी। वे कई बार हिन्दुओं के पवित्र तीर्थ हरिद्वार में गंगाजी का स्नान करने के लिए भी गये। उन्होंने वहाँ कई साधु-सन्तों के दर्शन किये तथा उनकी यथोचित पूजा की।

यद्यपि सिक्ख जाति में कई वर्षों से वीरता के लक्षण मिलते थे किन्तु महात्मा बन्दा की जीवन-लीला समाप्त होते ही सिक्खों ने लड़ने की नीति अलग रीति से अपना ली थी। वे सामने होकर लड़ना पसन्द नहीं करते थे। जब कोई प्रबल शत्रु उन पर आक्रमण करता तो वे इधर-उधर पर्वतों और बीहड़ वनों में जाकर छिप जाते। जब शत्रु बढ़ता हुआ ऐसे स्थान पर पहुँच जाता जहां उसे घेर कर मारना सरल होता तो वे पर्वतों और वनों से निकल कर छापा मारते और उसका सब माल-असबाब लूट ले जाते। परन्तु यह तरीका सिक्खों की उन्नति में बाधक था। इसलिये धीरे-धीरे वे निस्तेज और निर्बल होते गये। बंदा बैरागी की मृत्यु के पश्चात् और महाराजा रणजीतसिंह से पूर्व सिक्ख जाति नष्ट-प्रायः हो चुकी थी। बादशाह फर्रुखसियर (वीर बैरागी को मरवाने वाला) ने सिक्खों के सर्व-नाश के लिए यह घोषणा कर रखी थी कि जो एक सिक्ख का सिर काट कर लावेगा उसको दस रुपये इनाम दिये जायेंगे। इस तरह सिक्खों के मस्तक सस्ते मूल्य पर कटने लगे। जिन सिक्खों को देखकर मुसलमान घरों में घुस जाते थे। आज उनका इस प्रकार वध किया जाने लगा। किन्तु समय सदा एक सा नहीं रहता। पञ्जाब में सूर्य की भाँति महाराजा रणजीतसिंह का जन्म हुआ। इनको हरिसिंह नलवा जैसा वीर सेनानी मिल गया। इस वीर ने महाराजा को अपना नेता मानकर समस्त पञ्जाब की भूमि को मुस्लिम शासन से मुक्त कर दिया। यों तो रणजीतसिंह का ऐसा प्रताप था कि उनके

सारे पंजाब में अपना एक छत्र शासन स्थापित कर लिया, किन्तु इनकी विजय में हरिसिंह नलवे का सबसे अधिक हाथ था। रणजीतसिंह में प्राकृतिक युद्ध-कौशल भी अत्यधिक था। जिन दिनों इन्होंने रामनगर में अपनी राजधानी स्थापित की तो एक दिन की बात है कि जब वह शिकार खेलने जङ्गल में गये तो शिकार के पीछे दौड़ते २ अपने साथियों से अलग होगये। दैवयोग से हशमतखाँ चड्ढा नामक एक मुसलमान सरदार भी वहाँ आ निकला। रणजीतसिंह को अकेला देख कर उसने गोली चला दी भाग्य-वश गोली का निशाना चूक गया। फिर क्या था, रणजीतसिंह ने बिजली की तरह झपट कर उस पर तलवार से ऐसा वार किया कि एक ही प्रहार में उस हत्यारे का काम तमाम कर दिया। यह देख उसके अन्य साथी भाग गये। वास्तव में बात यह थी कि महासिंह ने हशमतखाँ का प्रदेश छीन लिया था। इसलिये वह अब बदला लेने की ताक में था। अब मौका पाकर उसने उन के पुत्र रणजीतसिंह पर आक्रमण कर दिया।

युद्ध-क्षेत्र में वीरता दिखलाने के अतिरिक्त सन्धि कराने में भी रणजीतसिंह बड़े निपुण थे।

एक बार पटियाला के राजा साहिबसिंह और उनकी रानी आसकौर में परस्पर झगड़ा होगया। रानी चाहती थी कि मेरा पुत्र कुंवर कर्मसिंह गद्दी पर बैठे, परन्तु राजा अपने जीते जी ऐसा करने को तय्यार न था। इस गृह-कलह ने बड़ा विकट रूप धारण कर लिया। दरबार के कुछ कर्मचारी राजा के पक्ष में हो गये तो कुछ रानी के। महाराजा रणजीतसिंह को पञ्च बनाया गया। इन्होंने यह निर्णय किया कि गद्दी पर तो राजा साहिब ही बैठें, किन्तु कुँवर कर्मसिंह को ५० हजार की जागीर दे दी जाय

और रानी आसकौर पुत्र के साथ जागीर में ही रहे। इस निर्णय से दोनों पक्ष सन्तुष्ट हो गये। महाराजा रणजीतसिंह जब पटियाला से वापिस लौटने लगे तो राजा साहिबसिंह ने उन्हें एक हार भेंट किया जिसका मूल्य लगभग अस्सी हज़ार रुपया था। इतनेमें कुँवर कर्मसिंह वहां आकर महाराजा की गोद में बैठ गया और कहने लगा। महाराज ! यह हार तो मेरा है। इतनी बात सुनकर उदार-हृदय महाराजा ने वह हार उसके गले में पहना दिया और कहा यदि तेरा है तो तेरा ही रहे।

राजा साहिबसिंह उस हार को फिर महाराजा को ही देना चाहते थे किन्तु उन्होंने लेने से इनकार कर दिया।

यह इनके उदार हृदय की एक झाँकी है। इससे यह अनुमान सहज में ही लग सकता है कि उदार-हृदय के साथ २ ये स्वाभिमानी भी थे। धन की अपेक्षा इन्हें मान अधिक प्रिय था। जब ये किसी राजा महाराजा से मिलते तो बड़े ठाट-बाट के साथ मिलते थे। परन्तु जब इनसे कोई राजा मिलने आता तो उसका भी ये बड़ा आदर स्वागत करते। पटियाला के राजा साहिबसिंह यद्यपि इनके आधीन थे। फिर भी इनकी आपस में घनिष्ठ मित्रता थी और इसी मित्रता में रणजीतसिंह ने साहिबसिंह से पगड़ी बदल ली थी। महाराजा रणजीतसिंह उतना ही राज्य अपने अधिकार में रखना चाहते थे जितना कि उनसे भली-भांति सम्भाला जा सके। यही कारण है कि इनका राज्य-प्रबन्ध अन्य राजाओं की अपेक्षा बहुत उत्तम था। इसीलिए इन्होंने अपने सारे राज्य में अच्छे योग्य अधिकारियों को नियुक्त कर रक्खा था। प्रत्येक प्रान्त के अधिकारी को नाज़िम अर्थात् गवर्नर कहा जाता था। उसके दो तीन कारदार होते थे। प्रत्येक कारदार में ... [illegible]

कतानुसार ताल्लुकेदार और उसके सहायक, कानूनगो, पंच और पटवारी, चौकीदार आदि नियुक्त किये हुये थे।

दीवानी महकमे के अतिरिक्त फौजदारी प्रबन्ध कारदार की सहायता के लिए कोतवाल और अदालती काम के लिए मुतसद्दी और धार्मिक कामों के लिए क़ाज़ी, मुफ़्ती, ग्रन्थी और पण्डित नियुक्त थे। प्रत्येक ताल्लुकेदार और कारदार के साथ एक खज़ानची रहता था। कर लेने का तरीका भी बहुत उत्तम था। जब फसल पक कर तैयार हो जाती तो कानूनगो किसानों के सामने खेत की लम्बाई चौड़ाई नाप कर बीघे बना सरकारी रजिस्टर में लिख लेता। फिर एक दिन गाँव के चौधरियों और अन्य कर्मचारियों को इकट्ठा करके कारदार उनकी सम्मति से खेत का सरकारी भाग नियत करता। यह भाग निश्चित समय तक रुपये या अनाज के रूप में प्राप्त कर लिया जाता। आषाढ़ी फसल का लगान आषाढ़ मास तक और सावनी का मार्गशीर्ष के अन्त तक देना पड़ता था। इस रीति से किसानों को बड़ा लाभ होता था। कारदार या अन्य अधिकारी किसी भी फसल का लगान बिना मुखियों की सम्मति से नहीं ले सकता था। आजकल के कई ऐतिहासिकों ने तथा अन्वेषकों ने इस बात की खोज निकाली है कि महाराजा रणजीतसिंह ने अपने अधिकारियों को इस बात की आज्ञा दे रखी थी कि गाँव के चौधरियों और मुखियों की सम्मति के बिना उपज का लगान न वसूल किया जाय। इसके साथ ही वे बार २ अपने कर्मचारियों को हिदायत देते रहते थे कि "प्रजा की सुख-समृद्धि और सरकारी आय की वृद्धि का पूरा ध्यान रक्खा जाए।" यदि किसी साल फसल अच्छी न होती तो कर माफ़ करने के इलावा सरकारी कोष

से किसानों की सहायता भी की जाती थी। फलतः कोई भी अधिकारी प्रजा के साथ अनुचित व्यवहार नहीं कर सकता था। इनके राज्य-प्रबन्ध में विशेषता यही थी कि घूस या रिश्वत का कहीं नामों-निशान तक न था।

कोई भी अधिकारी घूस-रिश्वत तब लेता है जब कि उसको अपनी आजीविका के लिए पूरा वेतन न मिले। महाराजा रणजीतसिंह अपने कर्मचारियों को तथा अन्य अधिकारियों को इतना अधिक वेतन देते थे कि वही उनसे नहीं खाया जाता था। हरिसिंह नलवा का वेतन एक लाख रुपया था. पेशावर के अधिकारी अबूतबैल को इकतालीस हज़ार रुपया और मुलतान के अधिकारी सुखदयाल को छत्तीस हज़ार रुपया वार्षिक वेतन मिलता था। इन अधिकारियों का जब इतना अधिक वेतन था तो ये भी अनथक परिश्रम से राज्य की देख-रेख किया करते। संक्षेपतः उचित प्रबन्ध की यही एक बड़ी पहिचान है कि इनके राज्य की प्रजा सुखमय जीवन व्यतीत करती थी। इसका कथन विदेशी विद्वानों ने भी मुक्त-कण्ठ से किया है। लेफ्टिनेंट कर्नल मेलकम ने एक स्थान पर लिखा है कि "रणजीतसिंह का राज्य-प्रबन्ध पंजाब के लोगों की प्रकृति के बहुत ही अनुकूल था"।

जब कोई विजेता किसी प्रान्त पर अपना अधिकार कर लेता है तो कभी २ उस प्रान्त के वासियों में अशान्ति की लहर दौड़ रहती है। किन्तु रणजीतसिंह ने जिन प्रान्तों को अपने अधिकार में किया उनमें कभी अन्तर्विद्रोह नहीं हुआ। इससे भी यह स्पष्ट है कि प्रजा उनके शासन-सूत्र में बंध कर अपने आपको परम सुखी मानती रही। सारे पंजाब में लगभग ५० फौजी छावनियां थीं। इनमें विशेषकर पैदल सेना, घुड़सवार और हलकी तोप

भारी तोपें, बन्दूकें और युद्ध सम्बन्धी अन्य सामान अधिक मात्रा में विद्यमान रहता था।

इतना सब कुछ होने पर भी महाराजा रणजीतसिंह इस बात से सदा सतर्क रहते थे कि कोई यों न कहे कि तुम्हारा राज्य-प्रबन्ध ठीक नहीं। इसलिये जब कोई विदेशी यात्री उनसे मिलता तो वे उससे उस देश की प्रथा, शासन-पद्धति, जनसंख्या, उपज व्यापार और कर आदि के विषय में अवश्य पूछते। यदि किसी बात को वे अच्छी समझते तो उसको अपने शासन में प्रचलित करने का पूरा प्रयत्न करते। महाराजा का दूसरों से पूछने का ढंग भी बड़ा विचित्र था। वे ऐसे ढंग से सारी बातें पूछ लेते कि बताने वाला अपने मनमें कुछ बुरा अनुभव नहीं करता। साथ ही विदेशी यात्रियों का आदर-सत्कार अच्छी प्रकार करते। इस प्रकार अपने बुद्धि-बल से दूसरे के हृदय की बात जान लेने पर भी अपना रहस्य प्रकट नहीं करते थे।

शरणागत की रक्षा करना तथा अपनी प्रतिज्ञा का पूरी तरह से पालन करना इनमें यह एक स्वाभाविक गुण था। जो बात एक बार मुख से निकल जाती उसको तन, मन, धन से पूरा करते। काँगड़ा के राजा संसारचन्द्र ने एक बार महाराजा रणजीतसिंह से सहायता माँगी, क्योंकि नैपाल के राजा अमरसिंह थापा ने काँगड़ा पर चढ़ाई करदी थी। संसारचन्द्र की सहायता के लिये सेनासहित महाराजा ने स्वयं काँगड़े की ओर प्रस्थान किया। इतने में अमरसिंह ने भी बहुत सी भेंट दे कर अपना दूत रणजीतसिंह के पास भेजा।

इन्होंने दूत द्वारा कहला भेजा कि मैं संसारचन्द्र को सहायता का वचन दे चुका हूँ अतः आपकी सहायता नहीं कर सकता।

३ फरवरी १८६० को काबुल-नरेश शाहशुजा काबुल से भाग कर पंजाब आ गया। महाराजा रणजीतसिंह उस समय खुशाब में थे। शाहशुजा के दूत इनके पास आये और शरण देने की प्रार्थना की। महाराजा ने शाहशुजा को खुशाब बुलाया और उसका खूब आतिथ्य-सत्कार किया। इतना ही नहीं बल्कि उसके रहने के लिए रावलपिण्डी में उचित प्रबन्ध कर दिया।

यद्यपि हिन्दू मुसलमानों को ये समान-भाव से देखते थे फिर भी जो मुसलमान अधिकारी हिन्दुओं को घृणा की दृष्टि से देखता या हिन्दुओं के साथ अत्याचार करता। उसकी बुरी तरह से खबर लेते। बहावलपुर के अन्तर्गत उच्च के शीलानी और बुखारी सैयद अपने प्रदेश के रहने वाले हिन्दुओं पर बहुत अत्याचार करते थे क्योंकि वे बड़े धर्मान्ध और पक्षपाती थे। ये हिन्दुओं से इतनी घृणा करते थे कि यदि कोई हिन्दू इनके सामने आ जाता तो ये अपने मुख पर कपड़ा डाल लेते अथवा हिन्दू के मुख पर थूक देते थे। इनका आतंक सारे प्रान्त में छाया हुआ था। जब ये चाहते दिन दहाड़े लूटमार कर लेते थे। किसी को इनके विरोध का साहस न होता था। महाराज रणजीतसिंह ने जब यह बात सुनी तो इन्हें सन्मार्ग पर लाने के लिए अपने दो सरदारों हरिसिंह नलवा और दलसिंह को वहाँ भेजा। महाराजा की ओर से आज्ञा मिलने की देरी थी कि दोनों सरदार एक विजयी सेना लेकर उच्च जा पहुँचे। सैयद मुगल-कालीन बादशाहों के आधीन भी कभी न रहे थे फिर एक हिन्दू राजा के आधीन रहना वे क्योंकर स्वीकार करते। इसलिए वे भी दल-बल सहित लड़ने के लिए युद्ध-क्षेत्र में आ डटे। हरिसिंह जैसे वीर सेनानी के हाथ में कमान थी। अन्त में सैयदों को हार खानी पड़ी। अब तो वे बुरी तरह से घबराये।

आखिर उन्हें आधीनता स्वीकार करनी पड़ी। हरिसिंह ने उनसे एक प्रतिज्ञापत्र लिखवाया जिसके फलस्वरूप भविष्य में ऐसा न करने का प्रण किया था। सरदार हरिसिंह नलवा ने इस समर में जो वीरता दिखलाई थी उससे प्रभावित होकर महाराजा ने उसे मिट्ठा टिवाना का सारा प्रदेश पुरस्कार रूप में दे दिया।

पंजाव प्रान्त में एक छत्र राज्य स्थापित हो जाने पर भी दूर-दर्शी महाराजा रणजीतसिंह ने अंगरेज़ों से सन्धि कर ली। वह इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि अंगरेज़ों ने भारत वर्ष के अधिक से अधिक भाग पर अपना अधिकार कर लिया है इसलिए इनसे सन्धि करना ही उचित है। परस्पर सन्धि की ३-४ शर्तें निम्न प्रकार से थीं—

बृटिश सरकार और लाहौर राज्य की आपस में मित्रता रहेगी, बृटिश गवर्नमेंट लाहौर राज्य को सम्मान की दृष्टि से देखेगी। सतलुज नदी के उत्तर प्रदेश तथा वहां की प्रजा से बृटिश सरकार का कोई संबन्ध न होगा। इधर महाराजा सतलुज के बाँए तट पर अधिक सेना नहीं रख सकेगा। अपने प्रबन्ध के लिए जितनी सेना की आवश्यकता हो उतनी सेना रखना मित्रता-पूर्ण व्यवहार समझा जायेगा अपने पड़ोसी राजाओं के साथ अनधिकार चेष्टा न करनी होगी। इन शर्तों में से किसी एक के भंग हो जाने पर अथवा किसी एक की ओर से मित्रता न निभाने पर यह सन्धि भंग समझी जाएगी। इस सन्धि के बाद महाराजा रणजीतसिंह ने अपनी सेना को यूरोपीय ढंग से शिक्षित करने के लिए ४०-५० यूरोपियन अफसरों को नियुक्त किया।

पैदल सेना के सेनापति विन्तुरा को महाराजा ने ढ़ाई हजार

रुपया मासिक वेतन पर नियुक्त किया था। यह नेपोलियन बोनापार्ट की सेना में कई वर्ष तक कर्नल रह चुका था। कुछ समय तक यह ईरान के युवराज अब्बास मिर्ज़ा के पास भी सेना-संचालन का कार्य करता रहा। फिर लाहौर में महाराजा के पास चला आया। जनरल विंचुरा स्वयं भी बड़ा वीर और युद्ध-विद्या में कुशल था। सीमान्त के पठानों और अफ़ग़ानों से लड़ने के लिए कई बार महाराजा ने इसे सीमान्त प्रदेश की ओर भेजा। यहाँ इसने अपना जौहर ख़ूब दिखाया। ऐतिहासिकों का कहना है कि सीमान्त की लड़ाइयों में विजय पाना विंचुरा जैसे कुशल सेनापति का ही काम था। घुड़सवार सेना को सुशिक्षित करने के लिए जनरल एलर्ड को रक्खा गया। यह भी एक फ्रेंच युवक था और नेपोलियन की सेना में किसी ऊँचे पद पर रह चुका था। नेपोलियन की पराजय के बाद यह भी भारतवर्ष चला आया और महाराजा की सेनामें कार्य करने लगा। यह सेना का प्रबन्ध बड़ी चतुराई से करता था। अंगरेज़ों ने भी इसके प्रबन्ध-कौशल को देखकर इसकी मुक्त-कंठ से प्रशंसा की। महाराजा भी इसको हृदय से ख़ूब चाहते थे।

महाराजा ने जब अपनी सेना को यूरोपियन ढंग पर शिक्षित करना चाहा तो उन्होंने इस बात की आवश्यकता समझी कि तोपों का प्रबन्ध भी यूरोपियन ढंग से होना चाहिए। इसलिए जनरल कोर्ट को तोपख़ाने का अफ़सर नियुक्त किया गया। यह स्वयं तोपें ढलवा कर सिक्ख सिपाहियों को तोपें चलाना सिखाता था। इसने इतनी मेहनत से कार्य किया, कि पंजाब-केसरी का तोपख़ाना अंगरेज़ों के तोपख़ाने से भी अच्छा हो गया था। इन तीनों यूरोपियनों के अलावा जनरल

आखिर उन्हें आधीनता स्वीकार करनी पड़ी। हरिसिंह ने उनसे एक प्रतिज्ञापत्र लिखवाया जिसके फलस्वरूप भविष्य में ऐसा न करने का प्रण किया था। सरदार हरिसिंह नलवा ने इस समर में जो वीरता दिखलाई थी उससे प्रभावित होकर महाराजा ने उसे मिट्ठा टिवाना का सारा प्रदेश पुरस्कार रूप में दे दिया।

पंजाब प्रान्त में एक छत्र राज्य स्थापित हो जाने पर भी दूर-दर्शी महाराजा रणजीतसिंह ने अंगरेज़ों से सन्धि कर ली। वह इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि अंगरेज़ों ने भारत वर्ष के अधिक से अधिक भाग पर अपना अधिकार कर लिया है इसलिए इनसे सन्धि करना ही उचित है। परस्पर सन्धि की ३-४ शर्तें निम्न प्रकार से थीं—

बृटिश सरकार और लाहौर राज्य की आपस में मित्रता रहेगी, बृटिश गवर्नमेंट लाहौर राज्य को सम्मान की दृष्टि से देखेगी। सतलुज नदी के उत्तर प्रदेश तथा वहां की प्रजा से बृटिश सरकार का कोई संबन्ध न होगा। इधर महाराजा सतलुज के बांए तट पर अधिक सेना नहीं रख सकेगा। अपने प्रबन्ध के लिए जितनी सेना की आवश्यकता हो उतनी सेना रखना मित्रता-पूर्ण व्यवहार समझा जायेगा अपने पड़ोसी राजाओं के साथ अनधिकार चेष्टा न करनी होगी। इन शर्तों में से किसी एक के भंग हो जाने पर अथवा किसी एक की ओर से मित्रता न निभाने पर यह सन्धि भंग समझी जाएगी। इस सन्धि के बाद महाराजा रणजीतसिंह ने अपनी सेना को यूरोपीय ढंग से शिक्षित करने के लिए ४०-५० यूरोपियन अफसरों को नियुक्त किया।

पैदल सेना के सेनापति विंचुरा को महाराजा ने अढाई हजार

रुपया मासिक वेतन पर नियुक्त किया था। यह नेपोलियन बोनापार्ट की सेना में कई वर्ष तक कर्नल रह चुका था। कुछ समय तक यह ईरान के युवराज अब्बास मिर्ज़ा के पास भी सेना-संचालन का कार्य करता रहा। फिर लाहौर में महाराजा के पास चला आया। जनरल विंतुरा स्वयं भी बड़ा वीर और युद्ध-विद्या में कुशल था। सीमान्त के पठानों और अफ़ग़ानों से लड़ने के लिए कई बार महाराजा ने इसे सीमान्त प्रदेश की ओर भेजा। वहाँ इसने अपना जौहर खूब दिखाया। इतिहासज्ञों का कहना है कि सीमान्त की लड़ाइयों में विजय पाना विंतुरा जैसे कुशल सेनापति का ही काम था। घुड़सवार सेना को सुशिक्षित करने के लिए जनरल एलार्ड को रक्खा गया। यह भी एक फ्रेंच युवक था और नेपोलियन की सेना में किसी ऊँचे पद पर रह चुका था। नेपोलियन की पराजय के बाद यह भी भारतवर्ष चला आया और महाराजा की सेना में कार्य करने लगा। यह सेना का प्रबन्ध बड़ी चतुराई से करता था। अंग्रेज़ों ने भी इसके प्रबन्ध-कौशल को देखकर इसकी मुक्त-कंठ से प्रशंसा की। महाराजा भी इसको हृदय से खूब चाहते थे।

महाराजा ने जब अपनी सेना को यूरोपियन ढंग पर शिक्षित करना चाहा तो इसलिए इस बात की आवश्यकता समझी कि तोपों का प्रबन्ध भी यूरोपियन ढंग से होना चाहिए। इसलिए जनरल कोर्ट को तोपखाने का अफ़सर नियुक्त किया गया। यह स्वयं तोपें ढलवा कर [illegible] सिपाहियों को तोपें [illegible] सिखाता था। इसने इतनी योग्यता से कार्य किया [illegible] लोहा मानना अंग्रेज़ों ने [illegible] गया था। इन तीनों यूरोपियनों के अलावा [illegible]

एवेटाहाइल भी इनकी सेना का एक सुयोग्य अफसर था। इसका जन्म-स्थान इटली था। कुछ दिनों तक काम करने के बाद महाराजा ने इसको पेशावर का गवर्नर बनाया। इसमें यह खूबी थी कि अशान्ति के दिनों में यह बड़ी कठोरता से दमन करता और शान्ति के दिनों बड़ी उदारता से प्रजा का शासन करता था। यह राजों महाराजाओं की भाँति बड़े ठाठ-बाट से रहता था। महाराजा की मृत्यु के बाद भी यह चार पाँच वर्ष तक लाहौर के दरबार में कार्य करता रहा। महाराजा के तोपख़ाने में कर्नल गार्डनर नामक एक अमेरिकन भी था। वह भी कुछ वर्ष तक महाराजा के दरबार में काम करता रहा, परन्तु बाद में राजा ध्यानसिंह के तोपखाने का अफ़सर बन गया। यह अंगरेज़ी का बड़ा विद्वान् था। इसने कई एक पुस्तकें लिखीं। उपरोक्त प्रधान अफसरों के अतिरिक्त अन्य छोटे-मोटे कई अंगरेज़ कर्मचारी महाराजा की सेना में कार्य करते थे। इन सैनिकों में विशेषता यह थी कि ये बड़े परिश्रम तथा बुद्धिमत्ता-पूर्वक कार्य करते थे। किन्तु गुण-ग्राही रणजीतसिंह जिस किसी भी विदेशी सैनिक को अपने यहाँ रखते उससे पहिले कुछ शर्तें भी लिखवा लेते थे जिससे भविष्य में वह कहीं अन्तर्विद्रोह न कर दे। यूरोपियन लोगों से वे सदा सतर्क रहते थे तथा उनके लिये एक विशेष शर्त भी रखी थी कि—यदि कभी किसी यूरोपीयन शक्ति से सिक्खों को लड़ना पड़े तो तुम्हें सिक्ख राज्य का स्वामि-भक्त कर्मचारी बन कर उसके साथ लड़ना पड़ेगा। लाहौर राज्य की आज्ञा के बिना तुम किसी यूरोपीयन शक्ति से सीधा पत्रव्यवहार नहीं कर सकोगे। गो-मांस का भक्षण नहीं करना होगा।

यद्यपि ये नियम स्वतंत्रता-प्रिय यूरोपियनों के लिए अधिक

अनुकूल नहीं थे। फिर भी महाराजा की गुणग्राहिता से प्रभावित होकर उन्होंने ये शर्तें सहर्ष स्वीकार कर ली थीं। इनके अतिरिक्त भारतीय कर्मचारी, जिनका दरबार में विशेष मान था उनके नाम निम्न प्रकार से थे।

१. सरदार हरिसिंह नलवा प्रधान सेनापति।
२. जनरैल मुहकमचन्द।
३. जनरैल दीवानचन्द।
४. जनरैल अमरसिंह मजीठिया।
५. जनरैल गुलाबसिंह कलकत्ते वाला।
६. शेख इमामुद्दीन।
७. अकाली फूलासिंह।
८. सरदार श्यामसिंह अटारी वाला।
९. सरदार फतहसिंह।
१०. राजा ध्यानसिंह मंत्री।
११. राजा गुलाबसिंह।
१२. फकीर अजीजुद्दीन सलाहकार मंत्री।
१३. कप्तान धौंकलसिंह।
१४. जनरैल नरनादसिंह।
१५. श्यामसिंह पिशौरिया।

अपना राज-काज सैनिक-संगठन इस ढंग से किया हुआ था कि इन की मृत्यु के समय पचास हज़ार सुशिक्षित सिपाही, पचास हज़ार सुसज्जित घुड़सवार और तीन सौ तोपें थीं। इनकी असाधारण बुद्धि को देखकर ही लार्ड आकलैण्ड की पुत्री मिस ईडन ने महाराजा के विषय में लिखा है कि—"उन्होंने अपने पराक्रम से अपने आप को एक बड़ा राजा बना लिया। वे बड़े ही न्याय-प्रिय थे, कभी ही किसी को प्राणदण्ड देते हैं। उनकी प्रजा उन पर बहुत प्रेम रखती है।"

इनका प्रभाव इतना अधिक था कि एक बार गवर्नर जनरल ने फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन से पूछा कि महाराजा की कौन सी आँख कानी है, तो उसने उत्तर दिया कि—"महाराजा के मुख-मण्डल पर इतना प्रचण्ड तेज़ है कि आज तक मुझे उनकी ओर आँख उठा कर देखने का साहस ही नहीं हुआ।"

महाराजा का क़द नाटा और चेहरा कुरूप था। बचपन में चेचक के कारण इनकी बाईं आँख जाती रही थी। फिर भी एक दाहिनी आँख का ही इतना तेज़ था कि किसी को साहस न होता था जो थोड़ी देर के लिये भी इनसे आँख मिला सके। मुख पर शीतला के गहरे और घने दाग़ थे। नाक छोटी पर मोटी थी। गर्दन छोटी किन्तु मोटी। इसीलिये वे आसानी से इधर-उधर अपनी गर्दन को न घुमा सकते थे। पतली टांगें तथा छोटे २ हाथ, प्रायः दूसरों की अपेक्षा शारीरिक बनावट अच्छी न होने पर भी बुद्धि के प्रताप से अपना नाम अजर और अमर कर गये।

मृत्यु के समय अपनी रुग्णावस्था में महाराजा ने साधु, संतों फ़क़ीरों, मन्दिरों और मसजिदों के वास्ते पचीस लाख रुपये की संपत्ति और बाईस लाख नक़द दान दिये। अढ़ाई सौ मन घी

ज्वालामुखी को भेजा। ऐतिहासिकों का कथन है कि महाराजा अपने कोहेनूर हीरा को भी अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर में चढ़ाना चाहते थे, किन्तु कोष के अध्यक्ष मिश्र बेलीराम ने देने से इनकार कर दिया। उनका कथन था कि यह हीरा राज्य की संपत्ति है न कि महाराजा की निजी। यदि यह हीरा हरिमन्दिर में चढ़ा दिया जाता तो भारतवर्ष उस अमूल्य हीरे का अभी तक भी स्वामी बना रहता। परन्तु ईश्वर को यही स्वीकार था कि यह विदेशियों के हाथ चला जाये।

महाराजा रणजीतसिंह ने जिस दिन महाराजा की उपाधि धारण की थी उसी दिन से उन्होंने अपना सिक्का भी चलाया था। इनकी धार्मिकता का यह प्रमाण उसी दिन प्रकाशित होगया था जबकि सिक्के के ऊपर अपना नाम न लिख कर गुरु नानकदेव का नाम लिखा हुआ था। उसका नाम भी 'नानकशाही रुपया' या 'नानकशाही पैसा' था। रणजीतसिंह आकृति और रूप में अधिक ही बढ़े न थे किन्तु अद्भुत गुणों से भारत संसार के अद्वितीय प्रतापी महाराजा थे। यह इनके विषय में ही नहीं बल्कि संसार में कई अन्य भी ऐसे महापुरुष हुए हैं जिनके पूर्वज साधारण व्यक्ति थे और उन लोगों ने अपने अलौकिक गुणों से सारे देश को उज्ज्वल कर दिया। इसी प्रकार संसार के महापुरुषों में रणजीतसिंह का नाम भी अजर-अमर बना रहेगा।

सरदार हरिसिंह नलवा

इतिहास-प्रसिद्ध पञ्जाब-केसरी महाराजा रणजीतसिंह यद्यपि स्वयं ही महाप्रतापी एवं प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे, किन्तु उनके राज्य-विस्तार में सबसे अधिक हाथ सरदार हरिसिंह नलवा का था। महाराजा को हरि-सिंह नलवा के संयोग से जो सफलताएँ प्राप्त हुईं वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। सिक्ख राज्य के नलवा साहिब मानों एक प्रकार से मूल आधार ही थे। आपके पिता जी का नाम सरदार गुरदयालसिंह था। वे गुजरांवाला के निवासी तथा सिक्खों की सुकर चकिया नामी मिसल के अधिपति थे। सम्वत् १८४६ में वीर बालक हरिसिंह नलवा का जन्म हुआ। पिता ने बालक की शिक्षा के लिए एक पण्डित तथा एक मौलवी को नियुक्त किया। ये दोनों इस बालक को संस्कृत तथा फारसी की शिक्षा दिया करते थे। अभाग्यवश बचपन से ही हरिसिंह को पिता के दुलार से वञ्चित होना पड़ा। बालक की बड़ी विलक्षण बुद्धि थी। एक बार पढ़े हुए पदार्थ को वह कभी नहीं भूलता था। इन्होंने सिक्खों के अतिरिक्त शस्त्र-विद्या तथा घुड़सवारी का इस होनहार बालक ने बचपन से ही अभ्यास कर लिया था। बन्दूक [illegible] [illegible] [illegible] बल में भी इस बालक से अपटु था। [illegible] इसके हृदय में कूट-

मुग्ध हो कर रह जाता था । इसे अपने गुण और वीरता दिखाने का उचित आश्रय महाराजा रणजीतसिंह मिल गया। फिर क्या था ग्रीष्म ऋतु को पा कर मध्याह्न-कालीन सूर्य प्रतापी और असह्य बन गया। वास्तव में महाराजा को तो एक वीर सेनापति और हरिसिंह को गुण प्रकाशित करने का उचित स्थान मिल गया। परस्पर एक दूसरे के प्रभाव से दोनों चमक उठे। कहते हैं कि महाराजा रणजीतसिंह प्रतिवर्ष वसन्त-पञ्चमी के दिन एक दरबार बुलाया करते थे। जिसमें प्रान्त भर के नवयुवक अपने २ शारीरिक बल और युद्ध-कौशल दिखाया करते थे। दरबार की ओर से वीर युवकों को पारितोषिक दिया जाता था। सम्वत १८६३ वि० को जब प्रतिवर्ष की भांति दरबार लगा तो एक नवयुवक जोकि डील-डौल तथा शारीरिक एवं बौद्धिक बल में अद्वितीय था वहां अपने बाहुबल को दिखलाने आया। उसके शारीरिक करतबों को देख कर सब चकित रह गये। महाराजा ने प्रसन्न हो कर उस को अपना अङ्गरक्षक बना लिया यही वीर नवयुवक सरदार हरिसिंह था। एक दिन महाराजा के साथ जब हरिसिंह शिकार खेलने गये तो एक बाघ ने हरिसिंह पर आक्रमण कर दिया पर इस वीर ने बाघ के जबड़ों को पकड़ कर उसकी गर्दन मरोड़ डाली और झट से कृपाण निकाल कर ऐसा वार किया कि उसका मुण्ड धड़ से अलग हो गया। उसकी अद्भुत वीरता को देख कर महाराजा रणजीतसिंह हैरान हो गये और उसी समय से इन को 'सिंह-हृदय' नामक सेना का सेनापति बना दिया गया। यहां से इन का असली सैनिक जीवन शुरु होता है। उन दिनों सरदार हरिसिंह को अधिकतर नलवा कह कर पुकारते थे। इसका मुख्य कारण यही था कि उन्होंने बाघ को

गर्दन मरोड़ कर मार डाला था। तथा जातीय समदृष्टि भाव रखते हुए सबसे बन्धुभाव रखते थे। छोटे से छोटे सिपाही के साथ भी हमदर्दी से पेश आते थे। सिपाही भी इन को पिता के समान समझते थे।

सन् १८०७ में कसूर और मुलतान के नवाब मिल कर सिखों पर चढ़ाई करने की सोच ही रहे थे कि महाराजा रणजीतसिंह ने सरदार हरिसिंह को सेनापति बना कर मुलतान पर आक्रमण करने के लिए नौशहरा नामक स्थान पर भेज दिया। खालसा फौज को रोकने के लिए कसूर के शासक नवाब कुतुबुद्दीन २५ हजार सेना ले कर मैदान में आ डटा। परस्पर महान युद्ध छिड़ गया। फिर क्या था तोपों का तोपों से घुड़सवारों का घुड़सवारों से बन्दूकचियों का बन्दूकचियों से और पैदल सिपाहियों का पैदल सैनिकों से युद्ध हो गया। दोनों दलों में से कुछ समय तक किसी का भी कदम पीछे नहीं हटा, परन्तु अन्त में सिख दलों से नवाब की सेना दुर्ग में वापिस लौट आई।

सम्मिलित कर लिया गया। अब मुलतान के नवाब की बारी आई। नवाब ने कसूर के नवाब की सहायता की थी, इस लिये अब रणजीतसिंह मुलतान को भी अपने अधिकार में करना चाहते थे। आखिर १५ फरवरी १८१० को एक बड़ी भारी सेना और तोपखाने के साथ महाराजा रणजीसिंह अपने वीर सेनापति हरिसिंह नलवा के साथ मुलतान की ओर चल पड़े। नवाब ने जब नम्रता के स्थान पर धूर्तता दिखाई तो खालसा फौज ने बिना युद्ध किये ही नगर पर अपना अधिकार कर लिया। परन्तु किले के चारों ओर उन्हें कई दिनों तक घेरा डाले रहना पड़ा। जब लड़ाई लम्बी हो गई तो महाराजा ने अपने सारे सिपाहियों को सम्बोधित करते हुए कहा, मेरे वीर खालसा सिपाहियो ! मैं इस लड़ाई में शीघ्र सफलता प्राप्त करना चाहता हूं। इस लिए इस महान कार्य के लिए मुझे कुछ ऐसे निडर योद्धाओं की आवश्यकता है जो अपने प्राणों की ममता छोड़ कर अपना सीस बलिदान कर सकें। महाराज के उपरोक्त वचनों को सुन कर जिन वीर योद्धाओं ने अपने आप को पेश किया उनमें सर्व-प्रथम हरिसिंह नलवा ही थे। आखिर महाराजा स्वयं भी वीर सैनिकों के साथ सुरंगें बिछाने गये। किले से गोलियों की वर्षा हो रही थी, फिर भी देश-प्रेम के मतवाले वीर बड़ी कठिनाई से किसी न किसी प्रकार किले के नीचे पहुँच ही गये। निदान किले की दीवार में कई सुरंगें बिछा दी गईं और उनमें बारूद भर दिया। आग के लगते ही बड़ा भारी धमाका हुआ और दीवार की ईंटें हरिसिंह नलवा, निहालसिंह और अतरसिंह पर आ गिरीं। ये तीनों वीर बुरी तरह से घायल हुए। एक राल की जलती हुई हांडी इनके ऊपर शत्रुओं द्वारा फेंकी गई। हरिसिंह नलवा के सारे कपड़े जल गये, किन्तु

एक सैनिक द्वारा इनके कपड़ों की आग बुझा कर इन्हें छावनी में भेज दिया गया। अतरसिंह के प्राणपखेरू तो उड़ चुके थे अतः इनके अतिरिक्त अन्य घायलों को अस्पताल पहुँचाया गया। इधर गुरुभक्तों को लेकर महाराजा रणजीतसिंह किले में घुस गये। जब नवाब ने देखा कि वह चारों ओर से खालसा सेना द्वारा घिर गया है तो उसने महाराजा की अधीनता स्वीकार कर ली। मुलतान की लड़ाई में सरदार हरिसिंह ने अपना सिर हथेली पर रखकर जो अपनी अपूर्व वीरता का परिचय दिया उससे महाराजा के दिल पर तथा सिक्ख सेना पर नलुवा का सिक्का जम गया। महाराजा ने पुरस्कार रूप में हरिसिंह को २०००० की जागीर प्रदान की। इसके अतिरिक्त मिट्ठाटिवाणा आदि पर आक्रमण कर सरदार हरिसिंह ने इस को भी अपने अधिकार में कर लिया। महाराजा रणजीतसिंह ने प्रसन्न हो कर मिट्ठाटिवाणा का प्रान्त भी हरिसिंह को ही दे दिया।

महाराजा रणजीतसिंह इस वीर सेनानी को पाकर अटक के दुर्ग को निष्कण्टक बनाना चाहते थे। परन्तु सीमा प्रान्त में नहीं [illegible] था। इस लिए अटक के किले पर अपना अधिकार करने के लिए उन्होंने दीवान मुहकमचन्द और सरदार हरिसिंह को भेज दिया। उधर [illegible] के अधिपति शाहशुजा ने भी अपने वजीर को [illegible] की [illegible] खालसा फौज को रोकने के लिए [illegible] भेज दिया।

इसी समय दोस्तमुहम्मदखां ने हरिसिंह को [illegible] लिखी कि पेशावर छोड़ दिया जाय नहीं तो [illegible] हरिसिंह भला इस बात को क्यों मानता, [illegible] गया। [illegible]

सने लगी। एक तरफ 'अकाल पुरुष की जय, 'वाह गुरु दी फतह' तो दूसरी ओर 'अल्ला हु अकबर' का शोर मच रहा था। ऐसा घमासान युद्ध हुआ कि उसके सामने बड़े २ महायुद्ध भी फीके पड़ गये। लाशों के ढेर लग गये। दोनों पक्षों को अपना बाहु-बल प्रदर्शित करने का सुअवसर मिला। संग्राम करते करते जब दोपहर हो गई तो दोस्तमुहम्मदखाँ और सरदार जीवनसिंह की परस्पर मुठभेड़ हुई। सरदार साहिब ने एक ऐसा प्रहार किया कि दोस्त मुहम्मदखाँ घोड़े से ज़मीन पर आ गिरा। फिर क्या था अफगान सेना में भगदौड़ मच गई। सरदार हरिसिंह बराबर आगे आगे बढ़ते हो गये। इस प्रकार अटक पर विजय पाने का श्रेय भी हरिसिंह को ही मिला। यद्यपि मुलतान का नवाब खालसा राज्य के आधीन हो गया था, परन्तु उसने कई बार विद्रोह किया। इस लिए अब पञ्जाब-केसरी ने मुलतान को अपने राज्य में सम्मिलित करने का पूर्ण निश्चय कर राजकुमार खड़गसिंह को सदल-बल सहित मुलतान पर चढ़ाई करने के लिये भेज दिया। वास्तव में खड़गसिंह तो नाममात्र को ही सेनापति बने रहे वास्तव में करण-कारण नलवा साहिब ही थे। मुलतान पर चढ़ाई करने को जाते समय रास्ते में नलवा ने मुज़फरगढ़ पर भी अपना अधिकार कर लिया। २ फरवरी सन् १८१८ को सूर्योदय से पूर्व ही लड़ाई छिड़ गई। चार दिन की लगातार लड़ाई के बाद नलवा की तूफानी फौज शहर में घुस गई। कई दिन तक लड़ाई जारी रही। खालसा फौज ने दुर्ग के चारों तरफ घेर डाल दिया। सिक्खों का ख्याल था कि खाना-दाना न मिलने से किले के रहने वाले भूखों मर जायँगे; परन्तु नवाब ने

तो एक साल तक के लिए खाद्य-सामग्री जमा कर रखी थी। तीन महीने तक घेरा पड़ा रहा। आखिर अकाली नेता सरदार फूलासिंह से सहायता मांगी गई। अकाली नेता अपने वीर सैनिकों को लेकर मुलतान की ओर चल पड़ा। वहां पहुँचकर 'जमजमा' और 'जङ्ग बिजली' नामक दो तोपों द्वारा खिजरी दरवाजे का बुर्ज सहित तोड़ डाला। अकाली सेना किले में घुस गई। अकाली फूलासिंह के बाद सब से प्रथम भीतर घुसने वाला हरिसिंह नलवा ही था। बड़ा घमासान युद्ध हुआ, मानो प्रलय मच गई। कई वीर अमर गति को प्राप्त हुए। परन्तु अंत में दुर्ग हाथ आ ही गया। विजय का समाचार लाहौर दरबार में महाराजा के पास भेजा गया। महाराजा ने अकाली सेना के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और हरिसिंह नलवा की जागीर दुगनी कर दी।

अब तक की लड़ाइयों से ही पाठकों को पता चल गया होगा कि सरदार हरिसिंह नलवा कैसे वीर योद्धा थे। वे [illegible] योद्धा ही नहीं बल्कि एक कुशल शासक भी थे। [illegible] प्रबन्ध के कारण लोगों [illegible] प्रायः एक सफल योद्धा या सफल शासक होना [illegible] शासन के लिए प्रबन्ध की [illegible] की तथा सामरिक शक्ति की आवश्यकता होती है। ये दोनों गुण सरदार साहिब में पूर्णतया विद्यमान थे। [illegible] पर विजय पाने की लालसा महाराजा रणजीतसिंह के दिल में [illegible] बढ़ रही थी। पर उन्हें कोई उचित अवसर न प्राप्त [illegible] की स्वर्ग-भूमि पर पठानों के अत्याचार [illegible]

की यातनायें भी उसका मुकाविला नहीं कर सकती थीं। चलते-चलते किसी की हत्या कर देना अफगानों के लिये मामूली सी बात थी। ब्राह्मणों पर अधिक अत्याचार करने के लिये राज-दरबार की ओर से कई व्यभिचारिणी स्त्रियां रखी गई थीं। वे सुन्दर रूपवती बहु-बेटियों को सीधे दरबार में भेज दिया करती थीं। इस दुःख से दुखी हो कर एक धनी-मानी पण्डित बीरबर ने अपने पुत्र सहित किसी प्रकार राज्य सीमा से बाहर हो कर लाहौर की ओर प्रस्थान किया। उसने लाहौर पहुँच कर रणजीतसिंह के दरबार में तत्कालीन अत्याचारी शासक अतामुहम्मदखां और अजीमखां के रोमाञ्चकारी कृत्यों का वर्णन किया। उधर उन दुष्टों ने पण्डित बीरबर का घर-बार लूट कर स्त्रियों का सतीत्व भङ्ग करना चाहा। इसी दुःख के कारण बीरबर की स्त्री ने तो आत्म-हत्या कर ली, परन्तु उन दुष्टों ने उसकी पुत्रवधू को मुसलमान बना कर काबुल भेज दिया।

काश्मीरी प्रजा का कष्ट दूर करने के लिये २० जनवरी १८१९ को ३०००० सेना लेकर वीरशिरोमणि सरदार हरिसिंह नलवा अकाली नेता सरदार फूलासिंह तथा अन्य गण्य-मान्य वीरों सहित महाराजा रणजीतसिंह काश्मीर की ओर रवाना हुए। वज़ीराबाद के पास स्वयं तो १०००० सैनिकों के साथ रुक गये और वीर सेनानी हरिसिंह को कश्मीर पर चढ़ाई करने के लिए भेज दिया। सरदार साहिब रास्ते में राजौड़ी, पुंच्छ आदि कई रियास्तों को हस्तगत करते हुए सोपियां के मैदान में पहुंच गये ज़बारखाँ भी युद्ध की तैयारी कर रहा था। फिर क्या था—३ जुलाई १८१९ को सवेरे ही हरिसिंह के सैनिकों ने धावा बोल दिया। दिन भर दोनों दलों

में घमासान लड़ाई हुई। दोनों ओर से संगीनों और तलवारों के खूब जौहर दिखाये गये। सिक्ख-सेना तीन दलों में विभक्त की गई थी। एक दल मिश्र दीवानचन्द की अधीनता में सामने होकर लड़ता था। दूसरा हरिसिंह नलवा का दल अफ़गानों को पीछे से घेरे में डाले हुए था। तीसरा अकाली फूलासिंह का दल था, जिसने भाई सहित [illegible] को मार डाला। काश्मीर के शासक जबारखाँ का दाहिना हाथ हरिसिंह नलवा ने काट डाला। बड़ी कठिनता से अपने प्राण बचा कर वह भाग गया। उसे भागते देख अफ़गानी सेना में भगदौड़ मच गई। सिक्ख सेना की विजय हुई। विजय की खुशी तोपों की सलामी से मनाई गई। दूसरे दिन बड़ी सजधज के साथ सिक्ख सरदारों ने काश्मीर की राजधानी श्रीनगर में प्रवेश किया। राजकुमार खड़गसिंह ने यह घोषणा करवा दी कि [illegible] घबराने की आवश्यकता नहीं, [illegible] धन-माल की रक्षा की जायेगी। अनु-कूल हो विजयी सिक्ख सेना ने शान्ति से [illegible]। इससे काश्मीरी प्रजा की खालसा राज्य के प्रति सद्भावना बढ़ गई। इधर महाराजा को जब काश्मीर-विजय का समाचार मिला तो उन्होंने बड़ी खुशी मनाई। सरदार हरिसिंह जब काश्मीर-विजय करके [illegible] लौटे तो महाराजा ने उनका बड़ा स्वागत किया। विजय के [illegible] बड़ा भारी दरबार किया गया और [illegible] भी बहुमूल्य जागीर दी गई। दीवान मोतीराम को काश्मीर का गवर्नर बनाया गया। दीवान साहिब का शासन बड़ा [illegible] फिर से [illegible] होने लगी। [illegible] करने लगी। [illegible] हुई, [illegible]

उन्होंने हरिसिंह को काश्मीर भेजने का निश्चय किया। आखिर निश्चय के अनुसार नलवा सरदार गवर्नर बना कर काश्मीर भेज दिए गये। वहां पहुंचते ही उन्होंने दीवान मोतीराम से चार्ज ले लिया। काश्मीरी लोग साहसी, शीलवान नीतिज्ञ और चतुर होते थे, किन्तु मध्य काल में अत्याचारी मुसलमानों के शासन में रहने के कारण वहां की जनता में बहुत से दुर्गुण भी आ गये थे। उन सब के सुधारने का श्रेय नलवा सरदार को ही मिला। शासक-पद पर आरूढ़ होते ही सरदार साहिब ने सर्व-प्रथम कोष की जाँच-पड़ताल की। खज़ाना खाली पड़ा था और सेना को चार महीनों से वेतन भी नहीं दिया गया था। सरदार हरिसिंह ने सारे राज्य में घोषणा करवा दी कि खालसा राज्य ने बड़ी कठिनाइयों से काश्मीर के राज्य को हस्तगत किया है। उसका शासन-प्रबन्ध प्रजा की भलाई के लिए होगा। परन्तु वह तभी उचित रीति से चल सकता है जब कि अधिक से अधिक धन हो। जिन लोगों ने राज-कर अभी तक नहीं दिया वे सब अपने आप निश्चित तिथि तक दे दें। अन्यथा खालसा सरकार की ओर से दूसरा उपाय व्यवहार में लाया जावेगा। बारामूला प्रान्त तथा जेहलम नदी के दोनों किनारों पर बसने वाले मुसलमानों से राज-कर के अतिरिक्त ५) रू० युद्ध का हरजाना भी वसूल किया गया। अराजकता फैलाने वाले लोगों पर रात को धावा बोल कर उन के सेनापति गुलामअलीखाँ और जुलफिकारखाँ के पावों में बेड़ियाँ डलवा कर उन को लहोर भिजवा दिया। राज्य में शान्ति हो जाने के पश्चात् सरदार साहिब ने प्रजा का राज-कर कुछ कम कर दिया। अन्य पहाड़ी रियासतों की भाँति काश्मीर में भी बेगार लेनेकी प्रथा थी। जब कोई सरकारी कर्मचारी

बाहर दौरे पर जाता तो सैंकड़ों आदमी उस की सेवा-टहल के लिये साथ जाते। इस से प्रजा को बड़ा कष्ट होता था। यह बहुत बुरी प्रथा थी। नलवा साहिब ने इसे बंद कर दिया। कई वर्षों से काश्मीर में पश्मीने का काम बंद पड़ा था। हरिसिंह नलवा ने भेड़-बकरियों की वृद्धि में पर्याप्त धन की सहायता देकर पश्मीने का काम फिर से शुरू करा दिया। राज्य की व्यवस्था ठीक रखने के लिये स्थान-स्थान पर पुलिस-चौकियां, थाने और तहसीलें बनवाई गईं। एक शासक को राज्य के सुप्रबन्ध के लिए जितनी सुविधाओं की आवश्यकता होती है उन सब का उचित प्रबन्ध किया गया। इस प्रकार के उचित प्रबन्ध को देख कर महाराजा रणजीतसिंह ने उन को अपना सिक्का चलाने की भी आज्ञा दे दी। नलवा का राज्य-प्रबन्ध करना ही एक-मात्र ध्येय न था बल्कि धार्मिक विचारों के साथ-साथ वे हिन्दू संस्कृति की रक्षा करना भी चाहते थे। इसी लिए वे एक दिन बहुत से राज कर्मचारियों के साथ नगर की सैर को निकले। कई एक रमणीक स्थानों को देखते-देखते उन्हें पता चला कि यहां पर पहले कोई देव-मन्दिर था परन्तु मुसलमानी राज्य-काल में उस के स्थान में मस्जिद बना दी गई। अमरेन्द्र स्वामी के मन्दिर को जियारत-गाह के रूप में बदल दिया गया था। पांच गुम्बद वाले महाश्री के मन्दिर के आंगन में सिकन्दर की बेगम दफना दी गई थी। जिससे मन्दिर मकबरे के रूप में बदल गया था। जामा मस्जिद में भी सारी सामग्री हिन्दू मन्दिरों को तोड़ कर ही लगाई गई थी। सुलेमान की ऊंची चोटी पर महाराजा जिदमान द्वारा बनाया हुआ शंकराचार्य का जो सुन्दर मन्दिर था, उसकी चोटी से सीढ़ियां नीचे बहती हुई जेहलम नदी तक बनी हुई थीं। सन् १८[illegible]

बेगम जब जहांगीर के साथ यहां आई तो उसने वहां के सारे पत्थर उखड़वा कर अपनी यादगार में अपनी एक मसजिद बनवा दी थी। इस प्रकार अनेकों रोमाञ्चकारी दृश्य जब सरदार हरिसिंह ने अपनी आंखों देखे तो उन्होंने सोचा कि जब तक ये हृदय-विदारक दृश्य दृष्टि-गोचर होते रहेंगे तब तक हिन्दुओं के मन में मुसलमानों के प्रति घृणा के भाव बने ही रहेंगे इससे हिन्दु मुसलमानों का परस्पर प्रेम होना असम्भव हैं। इसपर विचार करने के लिये सरदार साहिब ने प्रसिद्ध पण्डितों और मौलवियों की एक सभा में यह घोषणा की, कि प्रत्येक जाति को अपने२ पूजा-स्थानों पर पूजा करने का अधिकार है। धर्मस्थानों की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य है। इस बात को सुनकर हिन्दुओं ने विनती की, कि महाराज इन मस्जिदों को ज्यों की त्यों ही रहने दें। इनको तुड़वा देने पर मुसलमान हमारे शत्रु बन जायेंगे और हम लोगों का यहाँ रहना भी कठिन हो जायेगा। नलवा के बहुत समझाने पर भी जब वे न माने तो उनको अपना विचार बदल देना पड़ा। काश्मीर राज्य के खालसा राज्य अन्तर्गत हो जाने पर हिन्दुओं का बड़ा भारी उपकार हुआ। मुसलमानी राज्य में चिरकाल तक हिन्दुओं को नंगो सिर तथा नंगे पाँव रहना पड़ना था। हिन्दू लोग घोड़े की सवारी भी नहीं कर सकते थे। नलवा ने इन बातों को समूल रूप से समाप्त कर दिया। यवनों के राज्य से पूर्व सारे काश्मीर में हिन्दुओं की संख्या अधिक थी पर कई एक कारणों से ९३ प्रतिशत हिन्दू मुसलमान बन चुके थे, अतः खालसा सरकार ने यह भी घोषणा करदी कि जो हिन्दू मुसलमान बना हुआ फिर से हिन्दु धर्म ग्रहण करना चाहे वह खुशी से कर सकता है। राज-कर्मचारी रिश्वत न लें इसलिये सबको उचित वेतन दिया

जाने लगा। उद्योग-धन्धों की ओर अधिक ध्यान दिया गया। सारे प्रान्त में अमन-चैन स्थापित हो गया। इधर महाराजा रणजीतसिंह ने जब देखा कि अब काश्मीर की व्यवस्था ठीक हो गई है अतः यदि अब साधारण सा शासक भी वहाँ भेज दिया जाय तो कार्य सुचारु रूप से चल सकता है। इसलिए २ वर्ष तक सरदार हरिसिंह को गवर्नर रखने के पश्चात् फिर दीवान मोतीराम को गवर्नर बना कर भेजा गया। क्योंकि वीरवर नलवा सरदार हरिसिंह से अभी तक बहुत सा काम लेने शेष थे। पेशावर का प्रान्त तथा अटक का इलाका खालसा राज्य में सम्मिलित करना बहुत ज़रूरी था। अतः महाराजा का पत्र पाते ही सरदार हरिसिंह काश्मीर से रवाना हो पड़े। काश्मीरी जनता ने बड़े दुख से ६ नवम्बर सन् १८२१ को आप को विदा किया। सरदार हरिसिंह जब वापिस लौट रहे थे वे अभी मुज़फराबाद में गढ़ि हबीबुल्ला के पास ही पहुँचे होंगे कि उन्हें पता चला कि हज़ारा प्रान्त के जदून और स्वाती सेना मार्ग रोके खड़ी है। इन्होंने केवल रास्ता मांगने के लिए ही अपने विश्वस्त हिन्दू तथा मुसलमान दूतों को उन के पास भेजा, किन्तु उन्होंने न एक न मानी। आखिर सिक्खों ने रास्ता निकालने के लिए उन पर धावा बोल दिया। सिक्खों का जोश आकाट्य था, विरोधी दल के अंग-ढीले पड़ गये। फिर क्या था मांगली पर सिक्खों का अधिकार हो गया। जदून और स्वाति-यों ने संधि करली। उन से युद्ध का हरजाना लिया गया। दो तीन दिन के बाद सरदार हरिसिंह लुशाय पड़ाव पर महाराजा से आ मिले। महाराजा साहिब ने सरदार जी का बड़ा सम्मान किया। फिर पेशावर प्रान्त पर चढ़ाई करने का प्रस्ताव किया गया। परन्तु पहले हुंडे पर ही कामयाब

करने का निश्चय हुआ। क्योंकि यह अधिक सम्पन्न प्रान्त था। उसका शासक हाफ़िज़ अहमदखां बड़ा वीर योद्धा था। उस के पास २५००० के लग-भग सेना थी। दूसरा यहां चढ़ाई करने में कठिनाई यह थी कि मुँघरे रेतीला प्रान्त था। अतः पानी की बड़ी दिक्कत थी। फिर भी पञ्जाब के प्रतापी महाराजा ने हरिसिंह जैसे वीर सरदार को पाकर चुप रहना अच्छा नहीं समझा और ३०००० सैनिकों को लेकर मुँघरे की ओर प्रस्थान किया। सेना तीन भागों में विभक्त की गई। सरदार हरिसिंह की-टुकड़ी ने रास्तों के किलों को फतह करते हुए मुँघरे पर आक्रमण कर दिया। तलवार से तलवार बजने लगीं। चार दिन तक तो बड़ा घमासान युद्ध हुआ। पाँचवें दिन नगर के अन्दर फौज प्रविष्ट हो गई। बड़े २ वीर सैनिकों सहित नवाब किले की रखवाली कर रहा था, परन्तु खालसा फौज ने तोपों द्वारा एक ही दिन में किले की दीवार गिरा दी। नवाब ने बड़ा मुकाबिला किया, किन्तु सरदार की चमचमाती तलवार को देख कर उस के पाँव उखड़ गये। वह अन्तः पुर में जा कर छिप गया। फिर क्या था अन्तःपुर के चारों ओर सिक्खों का कड़ा पहरा लग गया। नवाब ने जब आधीनता स्वीकार करली तो उसे महराजा के पास भिजवा दिया गया। महराजा ने उसे प्राण-दान देने के अतिरिक्त डेरा इस्माईलखां में एक बड़ी जागीर भी दे दी। इस प्रान्त का गवर्नर सरदार अमरसिंह को बना कर नलवा सरदार सहित महराजा रजधानी में वापिस लौट आए। जब लाहौर में विजय के उप-लक्ष में खुशियां मनाई जा रहीं थीं तो हज़ारा से विद्रोह का समाचार प्राप्त हुआ। महराज ने हज़ारा का विद्रोह शान्त करने के लिए सरदार

नलवा को वहां का गवर्नर बना कर भेजा। ऐसे विकट कार्य के लिए हरिसिंह नलवा से बढ़कर महराजा को अन्य कोई वीर उपयुक्त मालूम न पड़ता था। यही कारण है कि सरदार हरिसिंह सिक्ख राज्य का विस्तार करने में दूसरा रणजीतसिंह माना जाता है। सिक्ख राज्य का एक स्तम्भ यदि रणजितसिंह था तो दूसरा हरिसिंह नलवा।

आखिर पंजाब केसरी की आज्ञा से नलवा सरदार सन् १८२२ को हज़ारा में पहुँच गये और उन्होंने हाशमखाँ कराल के प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। हाशमखाँ को बंदी बनाकर-उसने सरदार अमर-सिंह जो कि उस प्रान्त का गवर्नर था के हत्यारों का पता लगा हत्यारों को आम जनता के सन्मुख तोपों से उड़ाया गया। अन्य भी जितनी लड़ाकू जातियाँ थीं नलवा ने एक एक करके सभी फतह कर लीं। ज़िला हज़ारा के मैदानी प्रान्त को आधीन करने के उपरान्त [illegible] तिनावली और मोरली जाति के पहाड़ी प्रान्तों को भी इन्होंने अपने अधिकार में कर लिया। सरदार साहिब को हज़ारा का शासन-प्रबन्ध करते हुए अभी एक साल भी नहीं हुआ था कि महाराजा रणजीतसिंह ने उन्हें लाहौर वापिस बुला लिया और उन्हें काबुल की गुप्त खबरों से परिचित कराया कि मुहम्मद अज़ीमखाँ सिक्खों से लोहा लेना चाहता है। उत्तर में हरिसिंह ने अर्ज़ किया कि हमें बिना प्रतीक्षा किये ही उन पर आक्रमण कर देना चाहिए। निदान नलवा सरदार ने हज़ारा प्रान्त का उचित प्रबन्ध करके सेना सहित अटक के किनारे डेरा डाल दिया। खाद्य-सामग्री का भी उचित प्रबन्ध कर लिया गया। उधर अज़ीमखाँ भी काश्मीर, सुंघेर आदि समृद्ध प्रान्तों को हाथ से निकला जानकर बहुत

चिन्तित था। अतः अब उसकी यह प्रबल इच्छा थी कि तुमुल युद्ध करके सिक्खों का परास्त किया जाय। इसी उद्देश्य से उसने फरवरी १८२३ में काबुल से कूच किया। पेशावर पहुँचते ही मुहम्दखाँ ने भी इस्लामी प्रदेशों में मुसलमानों को सिक्खों के विरुद्ध खूब भड़काया। इससे इस्लाम धर्म के पक्षपाती असंख्य कट्टर मुसलमान युद्ध के लिए तय्यार हो गये। अब के संग्राम-क्षेत्र नौशहरा बना। मुहम्मदखाँ ने कुछ सैनिकों को अटक की ओर सिक्ख सेना को रोकने के लिए भेज दिया। सिक्खों की सेना से मुहम्मद की सेना संख्या में बहुत अधिक थी। इसलिए अटक नदी के पुल को यवन-सैनिकों ने तोड़ दिया। अब सिक्ख सिपाहियों को खाद्य-सामग्री मिलनी भी कठिन हो गई। यह समाचार जब पञ्जाब-केसरी को मिला तो उन्होंने अकाली फूलासिंह को अपने साथ लेकर सिंधु नदी की ओर कूच किया और पुल के टूटे जाने से उन्होंने अपना घोड़ा नदी में डाल दिया। उनकी देखा-देखी सभी सिक्ख सरदारों ने नदी में अपने २ घोड़े डाल दिये और कुशल-पूर्वक पार जा उतरे। महाराजा के पहुँचते ही शत्रु-सेना में भग-दौड़ मच गई और सरदार साहिब ने जहांगीरा दुर्ग पर अपनी विजय-पताका फहरा-दी। कुछ दिन विश्राम करने के बाद १४ मार्च को खालसा फौज ने नौशहरे के मैदान में अज़ीमखां की सेना पर भी धावा बोल दिया। दोनों दल बड़ी वीरता से ल । अन्त में सरदार हरिसिंह ने उनका बहुत सा युद्ध-सम्बन्धी सामान छीन लिया। १४ बड़ी और १८ छोटी तोपें भी सिक्खों के हाथ लगीं। अज़ीमखां भाग गया और सिक्खों की विजय हुई। सरदार हरिसिंह की देख-रेख में यारमुहम्मदखाँ को पेशावर का अस्थायी

शासक बना दिया गया। इधर हज़ारा के तारीन और तोरखेल लोग कन्धार पर्वत की गुफाओं और घाटियों से निकल कर मुहम्मदखाँ तारीन के नेतृत्व में आस-पास के गांवों में लूट-मार किया करते थे, अतः नलवा सरदार उनका दमन करने के लिए वीर सैनिकों के साथ स्वयं वहां गये किंतु नाड़ा ग्राम के पास शत्रुओं ने सुरंगे बिछा रखी थी। सिक्ख सरदार को पास पहुँचा देख सुरंगों को शत्रुओं ने आग लगा दी जिससे बड़े धमाके के साथ पत्थर लुढ़कने लगे। सरदार हरिसिंह भी घायल हो गये। सरदार मोहनसिंह ने उनकी सहायता की और उन्हें अपने डेरे पर भिजवा दिया। स्वस्थ हो जाने पर खैदराबाद में सैयद अहमद से उन्हें तुमुल युद्ध करना पड़ा। अन्त में विजय हरिसिंह नलवा की हुई।

महाराजा रणजीतसिंह सारे अफ़गानी प्रदेश को अपने राज्य में मिलाना चाहते थे किंतु पूर्व में इनको अंगरेज़ों की ओर से भी खतरा था इसलिए इन्होंने यही उचित समझा कि पहिले अंगरेज़ों से संधि की बात-चीत की जाय। इस कार्य के लिए महाराजा ने नलवा सरदार को नियुक्त किया और सहायक रूप में दीवान मोतीराम, तथा फ़क़ीर अज़ीजुद्दीन, सरदार अजीतसिंह और लहनासिंह आदि भी उनके साथ भेजे गये। यह डिपुटेशन लुधियाना होता हुआ शिमला पहुँच गया। अंगरेज़ों की ओर से इनका स्वागत अच्छी प्रकार से किया गया। मुलकात का दिन भी नियत हो गया अंगरेज़ी फौज ने सरदार साहब का बड़ा ही सम्मान किया। बड़े बड़े अंगरेज अफसर उन्हें मिलने आए। आखिर गवर्नर जनरल लार्ड विलियम वेण्टिङ्क से भी मुलाकात हुई। कुशल-प्रश्न के बाद दोनों ओर से भेंट (उपहार) दिये गये और अंगरेज़ी सरकार की पञ्जाबी सरकार से

पक्की मित्रता हो गई। गवर्नर जनरल भी वीर सिक्खों से मिले रहना ही उचित समझता था। इस लिये महाराजा के प्रतिनिधियों से मिल कर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ। अंत में प्रतिनिधियों को विदा करके गवर्नर जनरल ने महाराजा से मुलाकात करने के लिए रोपड़ नामक स्थान निर्धारित किया।

वीर सेनानी सरदार हरिसिंह का सारा जीवन लड़ाई और मार-काट में ही बीता। लड़ाई से छुट्टी पाई तो झट उन्हें शासन-प्रबंध सौंप दिया जाता सीमा प्रांत का बहुत सारा भाग स्वाधीन कर लेने पर भी खैबर के दर्रे से काबुल के आक्रमण का भय सरदार साहिब को सदा बना रहता था। इसलिए उन्होंने काबुली पठानों को रोकने के लिए खैबर के समीप जमरोद नामक स्थान पर एक बड़ा मज़बूत किला बनाना शुरू किया। इसकी दीवारें चार गज चौड़ी और १२ गज ऊँची थीं। उसमें युद्ध-सामग्री भी अधिक मात्रा में रख दी गई। किले में पानी का प्रबंध नहर द्वारा किया गया। सरदार महासिंह को किले का रक्षक नियत किया गया। उधर काबुल के शासक ने जब यह समाचार सुना तो वह बहुत घबराया, किंतु इस्लाम के नाम पर काफिरों से युद्ध करने के लिए उसने यवनों को खूब भड़काया। इस प्रकार सिक्खों से लड़ने वाले मुसलमान इस्लाम की रक्षार्थ अधिक से अधिक संख्या में इकट्ठे हो गये। अब काबुल के शासक दोस्तमुहम्मदखाँ ने अपने एक विश्वस्त सेनापति के साथ १५ अप्रैल १८३७ को एक बड़ी भारी सेना सीमा प्रांत की ओर रवाना की अफगानों की सेना जमरोद आ पहुँची, किन्तु सिक्खों की ओर से कोई तय्यारी न थी। क्योंकि इधर कुँवर नौनिहालसिंह का विवाह था

राजा महाराजा, नवाब और अंगरेज़ों के सेनापति आदि बड़े २ लोग लाहौर आये हुए थे। महाराजा ने अपनी सारा सेना लाहौर बुला रखी थी। जमरोद के किले पर अफगानों ने अक्रामण कर दिया। ८००० सिक्ख सेना ३०००० अफगानों का भला कैसे सामना कर सकती थी। आखिर किला घेरे में आ गया। खाने-पीने का सारा प्रबन्ध टूट गया। सिक्ख-सेना अब भूखों मरने लगी। रात को महासिंह ने एक सभा बुलाई और सरदार हरिसिंह को साहयता के लिए एक पत्र लिखा। पत्र-वाहक कौन बने, चारोंओर दुश्मनों का घेरा पड़ा था तिल-भर जगह भी खाली न थी। इतने में एक वीराङ्गना रसोई-घर से निकली और उस ने पेशावर पत्र पहुँचाने का भार अपने ऊपर ले लिया। उस ने पोस्तीन उलटा कर पहन ली और वह कुत्ते की भांति चलने लगी। इस प्रकार वह वीर रमणी पेशावर पहुँची गई। उस समय सरदार हरिसिंह बीमार अवस्था में लेटे पड़े थे। कुशल पत्र-पढ़ते ही दस हज़ार सेना को जमरोजद जाने की आज्ञा दे दी। स्वयं भी सरदार हरिसिंह सूर्योदय से पहले ही जमरोद जा पहुँचे। भेड़िये की भांति नलवा सरदार अफगानों पर टूट पड़ा। बड़ा भयंकर संग्राम हुआ। जब पठानों को इस बात का पता चला कि हरिसिंह इस लड़ाई में स्वयं लड़ रहे हैं तो वे भागने लगे। भगदौड़ का पीछा सरदार निधानसिंह ने किया। पीछा करते २ खैबर के दर्रा तक जा पहुँचे। हरिसिंह को भी साथ जाना पड़ा। इतने में पठानों की एक ताज़ा दम सेना आगई और फिर नये सिरे से लड़ाई शुरू हो गई। गुफा में पठानों ने हरिसिंह पर गोली चला दी। एक गोली पेट में और एक

पांवों में लगने से वे घायल हो गये, किन्तु घोड़े को दौड़ा कर वे दुर्ग में जा पहुँचे। परन्तु उनकी हालत बिगड़ती ही गई। उनके शरीर से खून का फव्वारा छूट रहा था। उनकी ऐसी दशा देख कर सारी सिख-सेना शोक-सागर में डूब गई। महाराणा प्रताप की भांति मृत्यु-शय्या पर लेटे हुए सरदार हरिसिंह नलवा ने सिक्ख सरदारों को वीरता-पूर्वक लड़ने की बधाई दी और उन से कहा कि अब मेरी आत्मा इस शरीर से निकलना चाहती है। आप लोग विजय-पताका की शान तब तक रखें रहना जबतक कि महराजा साहिब यहां स्वयं न पहुँचा जायें। सरदार साहिब इन उपदेशों के साथ वीरगति को प्राप्त हुए। यह सन् १८३६ का समय था जब कि पंजाब को ऐसे वीर से हाथ धोना पड़ा। महाराजा को जब यह समाचार मिला तो वे कुछ देर तक चिन्ता-सागर में डूबे रहे तथा उन के आंखों में आंसूओं की अविरल धारा बह निकली। सरदार हरिसिंह नलवा वास्तव में ही एक अद्वितीय वीर थे। उनका मुख सूर्य-मण्डल की भांति चमकता था। उन के नाम में ही इतना तेज था कि कोई भी शत्रु उनके आगे न टिक सकता था। उन का शरीर लम्बा-चौड़ा और सुन्दर था। पठानों के लिये तो मानो वे हौआ ही थे। अभी तक पठान स्त्रियाँ रोते हुए बच्चों को चुप कराने के लिए 'हरिया आया, हरिया आया, कह कर के चुप कराती हैं। वे शस्त्र-विद्या में बड़े निपुण थे। युद्ध-भूमि में उनके सामने बलवान से बलवान शत्रु का भी खड़े रहना असम्भव था। यदि हमसे कोई पूछे कि संसार में सफल सेनापति कौन है ? तो बिना झिझक के हम तो यही कहेंगे कि हरिसिंह नलवा। यदपि इस

प्रश्न का उत्तर हमारे फ्रांसीसी भाई यह देंगे कि नेपोलियन ही सब से बड़ा विजेता था। कुछ लोग मार्शल हिन्डन वर्ग, लार्ड किचनर, जनरल करेवजे, ड्यूक आफ वलिङ्गटन, हलाकू खां, चङ्गेज़खाँ रिचर्ड और इल्ला-उद्दीन आदि का नाम लेंगे, परन्तु मेरी अपनी धारणा है कि यूरोप में इस महान और सफल सेना-नायक हरिसिंह नलवा का नाम तक भी कोई न लेगा परन्तु, जो लोग भारतवर्ष के इतिहास से भली-भांति परिचित हैं वे इस अद्वितीय सेनापति का नाम खूब जानते हैं।

यद्यपि इनके विषय में किसी ऐतिहासिक ने कुछ लिखा नहीं है फिर भी जहाँ तक मेरा अध्ययन है और मेरा विश्वास है कि संसार भर में सबसे बड़ा सेनापति नलवा ही हुआ है। उसने थोड़ी सी सेना से जिस प्रकार अफ़िगानिस्तान जैसे प्रान्त को पराजित किया और फिर पठनों पर अपनी सामरिक योग्यता की जो छाप लगाई वह उसकी महत्ता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। अफगानिस्तान वही देश है जिस में अङ्गरेज़ी सेना का तीन बार संहार हुआ। यदि अंगरेज़ी सेना और उसका महान् कोष हरिसिंह नलवा के पास होता तो शायद वह कुछ साल में ही समूचे एशिया और सारे यूरोप पर भी अपना अधिकार जमा लेता। चाहे हरिसिंह नलवा को महायुद्ध और वाटरलू जैसी लड़ाइयों में भाग लेने का अवसर नहीं मिला पर उसकी प्रारम्भिक जीतें और उसकी युद्ध-नीति अपना उदाहरण आप ही थी। जो लोग जाति और धर्म की मर्यादा पालन करने के लिए वीर सैनिक बनना चाहते हैं उनको चाहिए कि वीर सेनानी हरिसिंह नलवा के चरित्र को अवश्य पढ़ें तथा उसका अनुकरण करें। सेना-संगठन और सेना-संचालन के जो गुण इनमें पाये जाते हैं वे अन्यत्र दुर्लभ हैं।

सरदार साहिब का व्यक्तिगत चरित्र बहुत उच्च था। संसार में ऐसे गिने-चुने ही व्यक्ति हुए हैं जो अपनी पूर्व अवस्था में साधारण कोटि के होने

पर भी अपने अद्वितीय बाहु-बल और अलौकिक बुद्धिबल से जिन्होंने अमर कीर्ति प्राप्त की है। प्रायः जो साधारण स्थिति से उठकर किसी उच्च पद पर पहुँच जाता है उसके चरित्र में अनेक दोष आ जाते हैं। वह-कई प्रकार के दुर्व्यसनों में फंस जाता है। परन्तु ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी नलवा सरदार बड़ी सादगी, और सदाचार से रहता था। इसका जैसे चरित्र निर्मल था वैसे ही स्वाभाव भी बड़ा मधुर और लोक-प्रिय था। इसकी महत्ता का सब से बड़ा प्रमाण यही है कि शत्रुओं ने भी इसके गुणों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। सरदार साहिब सचाई की ओर अधिक ध्यान देते थे। विजेता प्रायः विजित जातियों पर कठोरता का व्यवहार करते हैं, किन्तु नलवा सरदार बिना किसी विशेष कारण के किसी पर भी सख्ती नहीं करता था। इनकी उन्नति का एक विशेष कारण यह भी था कि ये अपनी लगन के पक्के थे। जिस कार्य के पीछे पड़ जाते उसे पूरा करके ही छोड़ते थे। जमरोद की लड़ाई का समाचार जब हरिसिंह ने सुना तो उस समय वे बहुत तीव्र ज्वर से पीड़ित थे। फिर भी दस हज़ार सेना के साथ रातों-रात पेशावर से जमरोद की ओर रवाना हो गये। नलवा सरदार यदि चाहते तो कोई और अपना प्रतिनिधि भेज कर स्वयं विश्राम करते, परन्तु उन्हें तो इस बात की लगन थी कि वे युद्ध-क्षेत्र की कमान स्वयं अपने हाथ में ही रखें। ज्वर-पीड़ित होने पर भी नलवा सरदार शेर की भाँति शत्रुओं पर टूट पड़ा। पहिले दो आक्रमणों में तो पठान सैनिक ज्यों के त्यों खड़े रहे परन्तु सरदार साहिब ने जब पूरे जोर से तीसरा आक्रमण किया तो पठानों में भगदौड़ मच गई। भागते हुए पठानों का पीछा करना उन्होंने उचित नहीं समझा, पर भगोड़ों का पीछा करने वाले सरदार निधानसिंह का साथ देना भी ज़रूरी समझ खैबर के दर्रे तक जा निकले। यद्यपि इस युद्ध में इनको विजय के साथ २ अपने प्राणों से भी वियुक्त

होना पड़ा, इस प्रकार की वीरता के साथ इनकी अटूट लगन-शीलता का पूर्ण-रूप से पता चलता है।

जो लोग किसी वीरता में आगे बढ़े हुए होते हैं उनका हृदय भी बड़ा उदार होता है। एक समय की बात है कि हरिसिंह अपने सैनिकों के साथ जंगल में डेरा डाले हुए थे कि इतने में एक हिन्दू ने आकर प्रार्थना की—महाराज! मैं एक अच्छे वंश का हिन्दू नवयुवक हूँ यहां से थोड़ी दूर पर मेरा विवाह हुआ था। कल हम लोग बड़ी धूम-धाम से लौट रहे थे तो किसी ने मिचनी के सरदार खान को सूचित कर दिया कि एक हिन्दू सुन्दर स्त्री तथा बहुत सा रूपया लेकर आ रहा है। उस ने उसी समय एक घुड़सवार वीर को हमारे पास भेज कर कहला भेजा कि नववधू और धन-दौलत को मिचनी के खान के पास भेज दो। आखिर वह मेरी नववधू को जबर्दस्ती घोड़े पर बिठा कर ले गया। हम लोग सब के सब बाराती खान से प्रार्थना करने के लिए गये, परन्तु बहुत कुछ कहने-सुनने पर भी उसने कुछ भी वापिस नहीं किया, प्रत्युत लूटकर हमें भी बन्दी बना लिया। मैं किसी प्रकार से छुटकारा पा कर आपकी सेवा में आया हूँ, आप कृपा करके हमारी सहायता करें। उस नवयुवक के साथ खान का एक गुप्तचर भी हिन्दू बन कर आया था। सरदार साहिब नीति-निपुण थे, वे समझ गये कि इस गुप्तचर के सामने कैसी बातें करनी चाहिए। सरदार साहिब उल्टे उस हिन्दू को डांटते हुए कहने लगे—अधिक बक-बक मत करो। जैसे आये हो वैसे ही वापिस चले जाओ। मैं पांच हजार सेना के स्वामी खान से लड़ाई मोल लेना नहीं चाहता। इन बातों को सुनकर गुप्तचर पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने मिचनी के खान को पूरी तरह से विश्वास दिला दिया कि सरकार आप से तो हरिसिंह नलवा भी डरता है। इस समाचार से खान तो निश्चिंत हो गया, परन्तु हिन्दू जाति का रक्षक वीर सेनानी

इस बात को कैसे सहन कर सकता था। उसके तन-बदन में आग सी लग रही थी। कुछ सोच-विचार कर सरदार साहिब ने रात को महासिंह को बुलाकर कहा कि अभी सारी सेना को मिचनी पर आक्रमण करने के लिये तय्यार करो। मिचनी के पास पहुँच कर नलवा सरदार ने एक दूत खान के पास भेज कर कहला भेजा कि उस गरीब हिन्दू की स्त्री को सकुशल वापिस लौटा दो, नहीं तो सारी मिचनी नष्ट-भ्रष्ट कर दी जायगी। पहिले तो खान हरिसिंह का नाम सुनकर डर गया, किन्तु स्त्री को वापिस न देने की ज़िद में पाँच सौ सैनिकों सहित लड़ाई के मैदान में आ डटा। घमासान युद्ध हुआ, सिक्खों की तीखी तलवार के आगे विलासी मुसलमान भला कैसे टिक सकते थे। सरदार साहिब ने अपनी तलवार से खान के दो टुकड़े कर डाले और उस हिन्दू अबला का उद्धार किया। इस घटना से सरदार साहिब की शरणागत सम्वेदना झलकती है। महाराजा रणजीतसिंह जब स्वयं शरणागत की रक्षा करते थे तो उनके प्रधान सेनापति नलवा सरदार का ऐसा होना स्वाभाविक ही था। यह हम पहिले ही कह आये हैं कि नलवा सरदार साधारण परिवार के पुरुष थे और उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो जाने पर भी वे अपनी पूर्वावस्था को नहीं भूले थे। जिस समय उन्होंने उस हिन्दू युवक की आर्त पुकार सुनी तो वे मन में इस बात का अनुभव कर रहे थे कि यदि इस युवक के समान मेरी अवस्था होती तो मुझ पर क्या गुज़रती। आज ईश्वर की कृपा से यदपि मैं बड़ा आदमी बन गया हूं तो भी मुझे अपनी पूर्ववस्था को भूलना नहीं चाहिए। पाठकों को यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि ऐसे उच्च विचार किसी विरले मनुष्य के ही होती है।

सीमा प्रान्त के अफ़गान तथा पठान इक्के-दुक्के हमले करके आज भी वहाँ के हिन्दुओं को सताते रहते हैं। महाराजा रणजीतसिंह के

राज्य-काल से पूर्व तो इनके अत्याचारों की पराकाष्ठा थी। हरिपुर हज़ारा को स्वाधीन करने के पश्चात् वहाँ की शासन-व्यवस्था ठीक करने के लिए सरदार नलवा को नियुक्त किया गया। कुछ दिनों के पश्चात् महाराजा रणजीतसिंह का आज्ञा-पत्र सरदार साहिब को मिला कि डेरा गाज़ी-खाँ और डेरा इस्माईलखाँ से राजस्व प्राप्त किया जाय। सरदार साहिब डेरागाज़ी खाँ की ओर प्रस्थान करने को ही थे कि पठानों ने हिन्दुओं को सताना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने कई हिन्दू स्त्रियों को पकड़ लिया। सरदार साहिब को जब यह समाचार मिला तो उन्होंने लौटते ही अत्याचारी पठानों को आ घेरा और उन्हें परास्त कर उनकी एक हज़ार के करीब स्त्रियों और बच्चों को बन्दी बना पठानों को कहला भेजा कि यदि तुम हिन्दू स्त्रियों को छोड़ दोगे तब हम भी तुम्हारी स्त्रियों को बालकों सहित छोड़ देंगे। उधर मुसलमानों ने सारी हिन्दू स्त्रियों को छोड़ दिया और इधर नलवा सरदार ने बड़े आदर के साथ स्त्रियों को उनके अपने-अपने घरों पर पहुँचा दिया। आक्रमणकारी पठान हिन्दू स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करने के लिये उनका अपहरण करते थे, परंतु नलवा सरदार ने तो ऐसा नहीं करना था, उन्होंने हिन्दु स्त्रियों का परित्राण करने के लिए ही उन यवनियों को बन्दी बनाया था। किसी भी सिक्ख सिपाही ने यवन-स्त्रियों के साथ बुरा व्यवहार नही किया। यह सब नलवा सरदार की सच्चरित्रता ही थी। वीर सैनिक को इन्द्रिय-दमन की बड़ी आवश्यकता होती है। नलवा सरदार तथा उसके सैनिकों में यह विशेषता पूर्ण-रूप से विद्यमान थी। ये लोग प्राचीन हिन्दू संस्कृति के उपासक तथा संरक्षक थे।

खालसा राज्य का प्रधान सेनापति होने से सरदार साहिब को यद्यपि इधर उधर जाने का समय कम मिलता था। फिर भी महाराजा रणजीतसिंह की गवर्नर जनरल से मुलाकात हो जाने के बाद सरदार साहिब कुछ दिनों के लिए तीर्थ-यात्रा के बहाने काशी चले गये। उन दिनों अमृतसर की एक स्त्री भी तीर्थ-यात्रा के लिये वहां आई हुई थी। दैवयोग से वहीं उसका एक छोटा सा लड़का मर गया। जब वह अबला उस बालक को जलाने के लिए मुर्दा-घाट पर पहुँची तो मुर्दाघाट के संरक्षक ने सवा रुपया टैक्स मांगा, किंतु वह बेचारी निर्धन स्त्री कहां से देती। उसके पास तो एक कौड़ी तक भी न थी। निदान लौटकर वह अबला नलवा सरदार के पास आई, दुखिया की बात सुनकर सरदार साहिब का करुणा-पूर्ण हृदय उमड़ आया। उन्हों ने अपने नौकरों को भेजकर विधिवत् मृत बालक का दाह संस्कार कराया और मुर्दाघाट के ठेकेदार को बुलाकर कहा-आज से लेकर पंजाबी मुर्दे को बिना ठेके जलाने की आज्ञा दे दिया करो। इसके बदले में जितना रुपया लेना हो वह मुझ से आज ही ले लो। ठेकेदार ने कहा, यह भूमि बड़ी कीमती है, परंतु यदि आप इसे खरीदना ही चाहते हैं तो जितना टुकड़ा आपने लेना हो उतने पर रुपयों का फर्श बिछावा दो इतना कर देने पर मुझे लाभ हो या हानि आप को अवश्य उतनी भूमि दे दूँगा। प्रतिज्ञा के अनुसार दोनों ने अपना-अपना कार्य किया। परिणाम स्वरूप आज तक भी पंजाबी मुर्दा काशी में बिना टैक्स के ही जलाया जाता है। सरदार साहिब को अपने प्रांत से कितना प्रेम था इस घटना से पाठक स्वयं ही समझ गये होंगे। इसके अतिरिक्त वे दान-

पुण्य भी बहुत अधिक किया करते थे। ये जैसे शक्तिशाली और बहादुर थे उससे भी कहीं अधिक उदार-हृदय भी थे। इनकी महत्ता की स्वयं महाराजा रणजीतसिंह मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा किया करते थे। तत्कालीन अंगरेज़ लोग भी इनका कम आदर नहीं करते थे। जिस समय महाराजा रणजीतसिंह ने हरिसिंह नलवा को अपना राजदूत बनाकर गवर्नर जनरल से मिलने के लिए भेजा उस समय की सजधज एक अनुपम महत्व रखती थी। महाराजा ने सजावट के लिए सोने के साज से सजा हुआ एक हाथी और चांदी के साज सहित एक सुन्दर घोड़ा भी इन के साथ कर दिया। नालागढ़ से होते हुए जब वे सपाटु को भी लांघ गये तो शिमले के निकट अंगरेज़ों ने इनका बड़ा स्वागत किय। अढाई हज़ार रुपया और ६५ थाल भोजन के रूप में सरदार जी को प्रतिदिन अंगरेज़ों की ओर से मिलने लगे। सरदार साहिब किस कोटि के आदमी हैं इस बात को चतुर अंगरेज खूब जानते थे। अन्यथा साधारण दूत की तरह ही इनका भी स्वागत करते। इतना ही नहीं सरदार साहिब के निवास-स्थान से लेकर मिलने के निश्चित स्थान तक दोनों ओर अंगरेज़ी सेना स्वागत के लिए खड़ी कर दी गई। सरदार साहिब को लेने के लिए बड़े-बड़े अंगरेज़ हाथों में पुष्पमालाएँ लिये रास्ते में ही प्रतीक्षा करते रहे तथा गवर्नर जनरल का चीफ सेक्रेटरी उन्हें बड़े आदर से मिला। गवर्नर जनरल ने उनका इतना सम्मान किया कि अन्य किसी राजदूत को ऐसा सम्मान शायद ही कभी प्राप्त हुआ हो।

सरदार साहिब की सदा यही भावना रहती थी कि यदि मित्रता से कार्य चल जाय तो व्यर्थ में ही रक्तपात क्यों किया जाय। जा इन की

वीरता को अच्छी तरहसे जान जाता वह इनसे टक्कर लेने की कभी नहीं सोचता था। अंगरेज़ों को अपनी वाक-चातुरी से नलवा सरदार ने ऐसा प्रभावित कर दिया कि अंगरेज़ों को खालसा राज्य से कभी भी लड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

दूत के कार्य में भी वीर सेनानी पूर्ण-रूप से सफल हुए। इससे उन की विलक्षण प्रतिभः का पता चलता है। यद्यपि बाद में महाराजा भी गवर्नर जनरल से मिले और परस्पर संधि की तीन शर्तें भी तय हुईं। फिर भी अंगरेज़ों को खालसा राज्य के प्रति मित्रता-पूर्ण व्यवहार कराने का श्रेय नलवा सरदार को ही है।

मुँधरे की लड़ाई में खालसा सेना को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। सरदार हरिसिंह की सेना तीन दिन के घोर संग्राम के बाद रास्ते में अनेकों दुर्गों को जीतती हुई चौथे दिन प्रातःकाल मुँधरे पर चढ़ आई। पठान लोग भी सामने आ डटे, तलवार से तलवार बजने लगी और तोपें आग उगलने लगीं। सारे आकाश में बारूद का धुँआ ही धुँआ छा रहा था। नवाब हाफिज़ अहमदखां के किले के चारों ओर घेरा डाल दिया गया। दोनों ओर से गोली बरसने लगी। पठान लोग मन में भयभीत हो रण छोड़कर भागने लगे, कई तो खालसा फौज में ही आ मिले। दुर्ग के एक भाग के धराशायी हो जाने पर सरदार साहिब २००० सैनिकों सहित किले के अन्दर घुस आये। नवाब भागकर अन्तःपुर में जा छिपा। ऐसे समय पर यदि कोई मुसलमान आक्रमणकारी होता तो वह अन्तः पुर में अवश्य धावा बोल देता, किन्तु ये तो धर्म-युद्ध के पक्षपाती थे। भागते हुए शत्रु का पीछा करना ये पाप समझते थे। इसी

कारण उन्हों ने अपने सैनिकों को यह आज्ञा दी कि अन्तःपुर पर कोई आक्रमण न करे। नवाब को जब बचाव का कोई उपाय न सूझा तो अपने विश्वस्त कर्मचारियों काज़ी गुलमुहम्मद और आलीजाह सिकन्दरख़ां को हरिसिंह के पास भेज कर यह प्रार्थना की कि मुझे अपनी करनी का फल मिल चुका है अतः अब मुझे प्राण-दान दिया जाय, साथ ही मुझे अपने कर्मचारियों तथा बेगमों के साथ सकुशल बाहर निकलने दिया जाय। उदार-हृदय नलवा सरदार ने हाफ़िज़ख़ां को केवल प्राण-दान ही नहीं दिया बल्कि महाराजा के पास अपनी ओर से उस की सिपारिश भी लिख दी। परिणाम-स्वरूप नलवा सरदार की कृपा से नवाब को डेरा इस्माईलखां में एक बहुत बड़ी जागीर मिल गई। कहने का सारांश यह है कि जब कभी शत्रु भी इन के आगे प्रार्थना करने आया और शरण मांगी तो उन्हों ने उस के साथ भी बड़ी उदारता का व्यवहार किया।

खालसा राज्य को शक्तिशाली और विस्तृत बनाने के लिये जहां कहीं भी नलवा सरदार लड़ने के लिये जाते पहले तो वे शांति से अपने प्रतिद्वन्दी को समझाने की चेष्टा करते, परन्तु जब वह नहीं मानता तब विवश होकर उस के साथ संघर्ष करते। युद्ध-क्षेत्र में कभी भी इन की पराजय नहीं हुई, प्रत्येक युद्ध में अपने शत्रुओं पर इन्हों ने ऐसा सिक्का जमाया कि आज तक भी उनकी सन्तान हरिसिंह का नाम सुन कर कांपने लगती हैं। विशेष कर सीमा प्रांत काबुल, कंधार और अफ़गानिस्तान के निवासियों पर हरिसिंह के नाम का एक हौआ सा बैठा हुआ था। जिन बर्बर पठानों का भय हिंदु जाति को स्वप्न में भी सुखी नहीं रहने देता था तथा सदियों से जिन पठानों के अत्याचारों के

हिन्दू जनता चुप-चाप सहती चली आ रही थी। उन्हीं पठानों को वीरवर नलवा सरदार ने इस प्रकार पछाड़ा कि आज भी पठान-स्त्रियां अपने बच्चों को चुप कराने के लिये "हरिया आया" कह कर डराती हैं। जिन पठानों के आगे अँगरेज़ी सेना भी अपने प्राण बचाकर भाग निकली सिक्खों की खालसा फौज ने नलवा सरदार के नेतृत्व में उनकी सारी हेकड़ी मिट्टी में मिला दी। नौशहरा, मुँघरे, अटक तथा जमरोद की लड़ाइयां इस बात को द्योतक हैं कि नलवा सरदार कितना पराक्रमी और उत्साही वीर था। यदि पंजाब केसरी महाराजा रणजीत-सिंह को नलवा सरदार का सहयोग न मिला होता तो सम्भव है कि वे एक छोटे से प्रांत के ही राजा बने रहते। इस लिये निःसंकोच यह मानना पड़ेगा कि खालसा राज्य की वृद्धि का मुख्य कारण सरदार हरिसिंह नलवा ही था।

वास्तव में उनका बड़ा प्रभाव-शाली व्यक्तित्व था। उन के मुख पर मध्याह्न के सूर्य के समान अलौकिक तेज था। युद्ध-क्षेत्र में तो बड़े २ लड़ाकू भी इन से हार खा जाते थे। राजनीति के विषय में भी इनके सामने उस समय का कोई भी राजनीतिज्ञ नहीं टिकता था। जो भी इनसे बातचीत करने आता वही इन की हाँ में हाँ मिला देता था। ईश्वर ने यदि इनको बल बुद्धि दी थी तो शरीर की बनावट तथा रङ्ग-रूप में भी ये किसी से कम न थे। ये दीर्घकाय एवं लम्बी भुजाओं वाले वीर तेजस्वी पुरुष थे। हृष्ट-पुष्ट अङ्गों के साथ २ चुस्ती मानों इनसे गठ-जोड़ किये बैठी थी। शेर की आँखों के सामने भला किस की आँखें ठहर सकती हैं। सरदार साहिब भी जिस से एक बार आँखें मिलाते वह अपने तन-बदन की सुध-

बुध भूले बिना न रहता। इन में सब से बड़ी विशेषता यह थी कि ये जिस काम में हाथ डालते उस को अधूरा कभी नहीं छोड़ते थे। आयु-भर शत्रुओं के साथ पूरे मनोवेग से लड़ते रहे। अपने सिपाहियों के खान-पान का तथा उनकी आवश्यकताओं का यह सदा ध्यान रखते थे। यही कारण था कि इनके दल के सिपाही बड़ी वीरता से जी तोड़ कर लड़ते थे। इनकी सेना में हिन्दू मुसलमान आदि सभी जातियों के लोग थे। इसी लिए नलवा सरदार ने धार्मिक पक्षपात का प्रश्न अपनी सेना में कभी भी न पनपने दिया। यों तो सभी स्थानों पर इन्हें मुसलमानों से लड़ना पड़ा, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि नलवा सरदार मुसलमानों के विरोधी थे या उनसे शत्रुता रखते थे। प्रत्युत वे अत्याचारी पापी और प्रजा-पीड़कों को कठोर दण्ड देते थे। चाहे वह मुसलमान हो; चाहे सिक्ख या हिन्दू। जो मुसलमान शासक अपनी प्रजा से अच्छा व्यवहार करते थे उनको नलवा सरदार ने कभी भूल कर भी दुःख नहीं दिया, बल्कि महाराजा से कह-सुन कर उन्हें बड़ी २ जागीरें दिलवा दी। जैसे-तैहकाल वाला अर्वाब मुहम्मदखाँ अपनी प्रजा से पिता-पुत्र जैसा व्यवहार करता था। नलवा सरदार ने महाराजा से कह-सुन कर उसे ६०००० की जागीर दिला दी थी। इसी तरह अन्य कई भले मुसलमानों की आपने मान वृद्धि की। नलवा सरदार के बड़े २ कर्मचारी मीर, मुंशी, और पेशकार आदि भी कई एक मुसलमान ही थे। इनकी उदारता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि इन्होंने ५२००० की अपनी जागीर का प्रबंध-कर्ता फतेखां टिवाणा मुसलमान को ही बनाया हुआ था। यदि ये सिक्खों के गुरुद्वारे, तथा हिंदु-मंदिरों को धन की सहायता देते तो मुसलमानों की मस्जिदों को भी आर्थिक सहायता से वञ्चित न रखते थे। हरिपुर में तेलियों के मुहल्ले की मस्जिद तथा गुजरांवाला में बागवाली मस्जिद इन्हीं की बनवाई हुई है। इन्हें घोड़े पालने का बड़ा शौक था

और स्वयं भी ये अच्छे घुड़सवार थे। युद्ध के मैदान में तो ये लगातार दो-दो दिन तक घोड़े की पीठ पर सवार रहते थे। ये स्वावलम्बी व्यक्ति थे, बचपन से ही ये अपने बुद्धिबल तथा अपने शारीरिक बल से इतने उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो गये कि जिसकी कल्पना वे स्वयं भी न कर सकते थे। अपनी योग्यता और कार्य-कुशलता से इन्होंने महाराजा रणजीत-सिंह को अपना बना लिया हुआ था। यही कारण है कि महाराजा साहिब हरिसिंह नलवा को एक राजा के समान ही-समझते थे। इसी लिए तो उन्होंने इनको दो प्रांतों काश्मीर और पेशावर में अपने नाम का सिक्का चलाने तक की भी आज्ञा दे दी थी। इनकी वार्षिक आय ८९०-० रुपया के लग-भग थी। एक साधारण व्यक्ति को इतने उच्च पद पर पहुँच जाना इनकी महत्ता का जीता-जागता उदाहरण है। इतने धनी-मानी होने पर भी सदा तितिक्षा से अपना जीवन व्यतीत करते थे। इतना होने पर भी ये आवश्यकता से अधिक नहीं बोलते थे। महापुरुषों का लक्षण हैं कि वे स्वभाव से ही मितभाषी होते हैं। अपने राज्य के अतिरिक्त अन्य देशों की राजनीति से भी ये भली भांति परिचित थे। लार्ड विलियम वेंटिङ्ग ने इनकी दूरदर्शिता तथा गहन राजनीतिज्ञता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। ईश्वरदत्त प्रतिभा के कारण नलवा अपने दुर्गों का स्वयं ही निर्माण कराते थे। इससे इनकी वास्तु विद्या का जानकार होना भी सिद्ध होता हैं। इनको सिक्ख धर्म पर बड़ी आस्था थी। गुरु ग्रन्थ साहब के कई एक स्थल तो इनको कण्ठस्थ हो गये हुए थे। प्रतिदिन ग्रन्थ साहब के पद बोलने तथा नित्य नैमितिक क्रिया से निवृत्त हो कर सैनिक-संगठन में लग जाते थे।

इतिहास के पृष्ठों पर जब कभी महाराजा रणजीसिंह तथा खालसा राज्य का वर्णन आयेगा वहां कोई भी ऐतिहासिक इस वीर सेनानी को न भुला सकेगा, क्योंकि खालसा राज्य के यह एक मूल स्तम्भ था।

वेदान्त-केसरी स्वामी रामतीर्थ

संसार में आत्मा परमात्मा को एक मानकर मुक्ति का संदेश देने वाला एकमात्र वेदान्त शास्त्र है। अन्य देशों की अपेक्षा पुण्यभूमि भारतवर्ष में असंख्य विद्वान् महात्मा कई सदियों से इस पवित्र शास्त्र की चर्चा करते चले आ रहे हैं। यद्यपि वेदों में भी इस शास्त्र की सत्ता विद्यमान है, परन्तु स्वामी शंकराचार्य ने ही वेदान्त का विकसित रूप विद्वानों के समक्ष रखा। उनका मुख्य सिद्धान्त यह था कि जीव और ब्रह्म एक हैं। माया का पर्दा जब तक रहता है तब तक ये दोनों भिन्न २ दिखाई पड़ते हैं, और इस पर्दे के हट जाने पर जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं। इस सिद्धान्त को उन्हों ने अद्वैतवाद के नाम से प्रचलित किया। स्वामी शंकराचार्य के बाद कई विद्वानों ने तथा महात्माओं ने इस वेदान्त का अध्ययन अध्यापन कर अपनी आत्मा को शान्ति प्रदान की। आत्मा को शान्ति प्रदान करने वाले इसी वेदान्त शास्त्र का प्रभाव रामतीर्थ जी पर भी पड़ा। यों तो कई विद्वान और उच्च कोटि के महात्मा अपनी आत्मा का उद्धार कर चुके हैं पर अपनी आत्मा की शान्ति के बाद दूसरों की आत्मा को भी संसार की दुःसह आग से बचाना स्वामी रामतीर्थ का ही काम था। इनके समकोटि के महात्मा स्वामी विवेकानन्द जी भी हो चुके हैं। इनका कार्य भी सराहनीय है। इन दोनों महापुरुषों ने अन्य विद्वान महात्माओं की भाँति केवल भारत में प्रसिद्धि नहीं पाई बल्कि यूरोप, अमरीका तथा एशिया महाद्वीप में भी अपनी कीर्ति-

पताका फहराई। यह उनकी प्रतिभा का ही प्रभाव था जो विदेशियोंको भी अपनी विद्या से प्रभावित कर सके। जहाँ ये महात्मा अंग्रेजी के धुरंधर विद्वान् थे। वहाँ भारतीय दर्शन-शास्त्रों के भी पूर्ण ज्ञाता थे। यही एक विशेषता है कि अपनी भाषा, संस्कृति, सभ्यता का विदेशी भाषा, संस्कृति, सभ्यता के साथ समन्वय करना इन दोनों महात्माओं की असाधारण शक्ति का परिचायक है। यहाँ पर हम केवल स्वामी रामतीर्थ की जीवनी तथा उनके कार्यों का उल्लेख करेंगे।

श्री स्वामी रामतीर्थ का जन्म काल अक्टूबर सन् १८७३ ईसवी है। आपकी जन्मभूमि पञ्जाब प्रान्त के अन्तर्गत गुजरांवाला जिला का मरालीवाला नामक ग्राम है। आप के पिता का नाम हीरानन्द और दादा का नाम रामलाल था। किंवदन्ती के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म इन्हीं के पूर्वजों के वंश में हुआ था। सुना जाता है कि स्वामी राम का जन्म ऐसे समय में हुआ था कि या तो बालक स्वयं मर जाता या माता पिता इन दोनों में से एक की मृत्यु होनी अवश्य थी। ईश्वर की कुछ ऐसी इच्छा हुई कि कुछ दिनों बाद सचमुच ही उनकी माता का देहान्त होगया और बालक बच गया। यह बात उनके दादा पं० रामलाल ने ही कही थी, क्योंकि वे ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान थे। ज्योतिष शास्त्र के बल पर रामलाल जी ने यह भी बतला दिया था कि भविष्य में यह एक बड़ा भारी महात्मा होगा। माता की मृत्यु के पश्चात् इनका लालन-पालन इनकी फूफी (पिता की बहिन) ने किया। शिशुविज्ञान वेत्ताओं ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि माता का प्रभाव बालक पर शत

प्रतिशत पड़ता है। कुछ बातें माता सिखाती है और बहुत सी बातें माता के स्वभाव से प्रभावित हो कर बच्चा स्वयं ही सीख जाता है। अब माता का कार्यभार इनकी फूफी पर ही था और वह एक बड़ी धर्म-कर्म करने वाली स्त्री थी। वह अपना समय अधिकतर देवताओं के पूजन और तीर्थों की यात्रा तथा साधु-संतों के दर्शनों में बिताया करती। इसका प्रभाव बालक पर भी पड़ा। उसी ने ही इनका नाम 'तीर्थराम' रक्खा। वह जब भजन करने लगती तो बालक तीर्थराम भी उसका अनुकरण करता। इनको भजन करने से बड़ा आनन्द मिलता था। आनन्द-प्राप्ति के लिए ही इस संसार में बच्चे से लेकर बूढ़े तक सभी प्राणी प्रयत्न करते हैं और यह आनन्द बालक राम को केवल मात्र भजन से ही मिलने लगा था। यह विशेषकर 'ओ३म्' शब्द का उच्चारण करते थे। हिन्दू-प्रथा के अनुसार पाँच वर्ष की आयु में इनको स्कूल में प्रविष्ट किया गया। गांव के पास ही एक प्राइमरी स्कूल था जिसमें उर्दू तथा फारसी पढ़ाई जाती थी। असाधारण बुद्धि होने के कारण तीर्थराम ने ९ वर्ष की छोटी आयु में ही इस स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर ली और दसवें वर्ष में गुजरांवाला के मिशन हाई स्कूल में प्रवेश किया। यहाँ एक भक्त धन्नाराम जी रहा करते थे। उनकी देख-रेख में बालक तीर्थराम की पढ़ाई का प्रबन्ध किया गया। ईश्वर का कैसा विचित्र नियम है कि पुरुष को जैसा बनना होता है उसको वैसे ही सहायक मिल कर जाते हैं। धन्नाराम भी उच्च कोटि के भक्त तथा वेदान्त शास्त्र के ज्ञाता थे। जब ये लोगों को वेदान्त की पुस्तकों का पाठ सुनाया करते तो राम भी बड़े ध्यान से उनके उपदेशों को सुनता। सत्संगति: कथय किन्न करोति पुंसाम्" यह कहावत इस बात की

प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव सत्संगति का ही पड़ता है। बालक राम के हृदय में यह इच्छा प्रबल हो चुकी थी कि मैं भी एक दिन इसी प्रकार वेदान्त के उपदेश सुनाया करूँगा। इसी लिए वे भक्त जी की बड़ी सेवा करते। साथ ही स्कूल की पढ़ाई का भी पूरा ध्यान रखते। प्रत्येक श्रेणी में सर्व-प्रथम रहना इनका एक साधारण काम था। १५ वर्ष की अवस्था में इन्होंने मैट्रिक परीक्षा पास कर ली। सारी युनिवर्सिटी में ये सर्व-प्रथम रहे। बालक राम का उत्साह बढ़ गया वह आगे पढ़ना चाहता था किन्तु उसके पिता कोई विशेष धनवान् न थे, उनकी इच्छा थी कि 'यह अब कोई नौकरी कर ले जिससे घर वालों का निर्वाह चले। आखिर अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध राम आगे पढ़ने के लिए लाहौर के फोरमैन क्रिश्चियन कालेज में प्रविष्ट हो गये। पिता की ओर से इनको कोई सहायता नहीं मिलती थी। मैट्रिक में सर्व-प्रथम रहने के कारण यूनिवर्सिटी से इनको छात्र-वृत्ति मिला करती थी। उससे ही वे फीस तथा पुस्तकों का प्रबन्ध करते थे और इधर उधर ट्यूशन करके अपनी रोटी का खर्चा निकाला करते थे। धन्ना भक्त यद्यपि आर्थिक सहायता तो न करते पर समय समय पर पत्र लिखकर उन्हें उत्साहित अवश्य करते रहते थे। तीर्थराम साधारण वेष-भूषा में ही रहा करते थे। सादगी से रहना इन में स्वाभाविक गुण था। यह बात संसार में बहुधा देखने में आती है कि जब कोई पुरुष किसी सन्मार्ग पर चलता है तो उसके रास्ते में कई बाधाएँ आ खड़ी होती हैं। यही बात इनके साथ हुई। एक तो पिता इनको खर्चा न देता था दूसरे इनका बचपन में विवाह भी कर दिया था। स्त्री का भार विद्यार्थी के लिए कितना कठिन और

असहनीय होता है यह सभी जानते हैं। विवाहित राम की पत्नी को भी पिता ने घर पर न रख कर लाहौर ही पहुँचा दिया। इससे राम के सिर पर कितना भार पड़ा होगा इसको पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं। फिर भी धीर मनस्वी राम ने इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं की। अपना और अपनी स्त्री का सारा खर्च उन्होंने विद्यार्थी अवस्था में भी स्वयं ही चलाया। इतना होने पर भी एफ. ए. की परीक्षा में फिर सर्व-प्रथम रहे। ईश्वर सबकी सहायता करता है। किन्तु अपने पांव पर स्वयं खड़े होने वाले उद्योगी मनुष्यों की तो अवश्य सहायता करता है। इस बार एफ. ए. में सर्व-प्रथम आने पर फिर यूनिवर्सिटी की ओर से इन्हें छात्र-वृत्ति मिलने लगी। इससे इनका निर्वाह पूर्ववत् होने लगा। राम का शरीर दुबला-पतला था फिर भी अपने शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए प्रतिदिन व्यायाम किया करते थे। समय-विभाग के अनुसार पढ़ने के समय पढ़ते और घूमने के समय घूमते और खाने के समय खाना खाते। यह अपना कीमती समय व्यर्थ कभी नहीं बिताया करते थे। प्रतिक्षण किसी न किसी कार्य में व्यस्त रहते। उद्योगी तीर्थराम ने अपनी दिनचर्या का वर्णन भक्त धन्नाराम को भेजे गये पत्र में स्वयं किया—मैं प्रतिदिन प्रातःकाल ५ बजे सोकर उठता हूँ, दो घण्टे पढ़ने के बाद स्नान से निवृत होकर व्यायाम करता हूं। फिर रोटी खाकर कालेज पढ़ने चला जाता हूं। रास्ते में भी पढ़ता रहता हूं। कालेज से लौटते समय रास्ते में दूध पीता हूं। घर पहुँच कर नदी के किनारे घूमने चला जाता हूँ। इन सब बातों से पता चलता है कि वे समय की कितनी कदर किया करते थे। अब तीर्थराम बी० ए० की श्रेणी में पढ़ने लगे। प्राइमरी

से ही इन्होंने फारसी पढ़ी थी इस लिए अब भी इनका विषय फारसी ही था। एक दिन सहपाठी छात्रों के कहने पर कि—"महाशय जी आपने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया है तो संस्कृत छोड़कर फारसी क्यों पढ़ते हो। बस फिर क्या था तीर्थराम फारसी के स्थान पर संस्कृत पढ़ने के लिये उद्यत हो गये, परन्तु चतुर और परिश्रमी विद्यार्थी को प्रत्येक प्रोफेसर चाहता है एत: एव फारसी के प्रोफेसर भी तीर्थराम से प्रसन्न रहते थे, किन्तु अब फारसी छोड़ने पर वे इन से बहुत ही अप्रसन्न हुए। साथ ही संस्कृत के प्रोफेसर ने भी इस बात पर असमर्थता प्रकट की कि तुमने एफ. ए. तक तो संस्कृत नहीं ली अब बी० ए० में लेकर कैसे सफल हो सकोगे। तीर्थराम द्वारा बार बार विनय करने पर भी संस्कृत प्रोफेसर ने प्रिंसिपल से शिकायत की, परन्तु तीर्थराम के संस्कृत पढ़ने के विचार को न छोड़ने के कारण सारा भार संस्कृत के प्रोफेसर को सहन करना ही पड़ा।

लगन-शील विद्यार्थी क्या कुछ नहीं कर सकता। फिर यदि उसमें प्रतिभा भी हो तो सोने में सुगन्ध बन जाती है। लगन और प्रतिभा इनके असाधारण गुण थे। घर पर ही इस लगन-शील विद्यार्थी ने संस्कृत पढ़ना शुरू किया और कुछ ही दिनों के बाद संस्कृत अध्यापक की आज्ञा से श्रेणी में नियमित रूप से पढ़ने लगे। कभी २ किसी प्रतिज्ञा का फल अन्त में बुरा भी निकल आया करता है। इन्होंने प्रतिज्ञा तो कर ली कि मैं संस्कृत ही पढ़ूँगा और पढ़ी भी, किन्तु एक विषय पर अधिक ध्यान देने से अन्य विषय कमजोर रह गये। संस्कृत में तो इनको सफलता मिली पर अंग्रेजी का विषय उतना अच्छा तय्यार न हुआ जितना कि एक परीक्षार्थी के लिए होना अनिवार्य है।

परीक्षा तो दे दी भाग्यवश अंग्रेज़ी का पेपर कठिन आया और परिश्रमी तीर्थराम केवल चार अङ्कों के लिये बी० ए० में फेल हो गये। यह समाचार उनके लिए कितना दुखद था इसको सहृदय पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं। फेल हो जाने के कारण छात्र वृत्ति मिलनी भी बन्द हो गई अब परिवार का खर्चा कैसे चलाया जाय यही एक मात्र चिन्ता उनको प्रतिक्षण घेरे रहती थी। घर से तो पहिले ही सहायता न मिलती थी अब तो वे उनसे और भी असंतुष्ट हो गये। आर्थिक समस्या सबसे कठिन होती है। मनुष्य इस के आगे झुक जाता है। पेट का प्रश्न सबसे मुख्य है। फिर अकेले होते तो किसी प्रकार संतोष भी किया जाता पर साथ में स्त्री का पालन और पढ़ाई ये दो विरोधी बातें कैसे सुलझ सकती हैं। संस्कृत लेने के कारण वे फेल हो गये। नहीं तो वे कभी भी फेल न होते। यद्यपि ऐसी कठिन समस्या में वे साधारण व्यक्ति के भाँति घबराये तो नहीं पर आत्मा में शान्ति भी तो न थी। ईश्वर की प्रार्थना के अतिरिक्त अब और कोई दूसरा उपाय न रहा। तीर्थराम रातदिन चिन्तित रहने लगे कोई उपाय नज़र न आता था। भारतीय शास्त्रों का कथन है कि जब मनुष्य एकाग्रचित्त होकर ईश्वर की शरण में चला जाता है तो वह दयालु परमात्मा किसी न किसी प्रकार से अपने शरणार्थी की सहायता करता है।

मंझधार में डूबती हुई नौका को पार लगाने वाले पतवार की भाँति उनको मौसा का एक पत्र मिला जिसमें २०) रुपया मासिक सहायता देना लिखा था। तीर्थराम को मौसा ने लिखा कि पढ़ाई जारी रक्खो इस संसार में सफलता-असफलता दोनों का चक्र मनुष्य के भाग्य के साथ घूमा करता है उत्साह न छोड़ो और पढ़ाई करते जाओ

अचानक मिली इस सहायता ने इनका फिर उत्साह दुगना कर दिया। फिर बी० ए० की परीक्षा दी और सारी यूनिवर्सिटी में सर्व-प्रथम आये। अब ६०) रु० मासिक छात्र-वृत्ति मिलने लगी। उत्साही छात्र को आगे पढने का सुअवसर मिला और सब कुछ सोच-समझ कर ये क्रिश्चियन कालेज छोड़कर गवर्नमेण्ट कालेज में प्रविष्ट हो गये। इन को बचपन से ही गणित से विशेष प्रेम था। इसलिए एम० ए० में इन्होंने गणित लिया। अपने सहपाठियों को बिना किसी फीस के गणित पढ़ाते। २२ वर्ष की अवस्था में ये एम० ए० परीक्षा में भी सर्व-प्रथम रहे। विद्यार्थी-जीवन में स्कूल तथा कालेज की पढ़ाई के अतिरिक्त इनका अधिक समय अध्यात्म चिन्तन में व्यतीत होता था। अस्तु तीर्थराम जी का विद्यार्थी-जीवन समाप्त हो गया। कुछ लोगों का विचार था कि 'रैङ्गलर' की परीक्षा देने के लिए आप विलायत जायेंगे नहीं तो 'सिविल सर्विस' की परीक्षा ही दे देंगे, किन्तु किन्हीं कारणों से इन्होंने दोनों विचारों में से कोई भी स्वीकार न किया। परीक्षा-परिणाम उत्तम रहने तथा प्रतिभाशाली होने के कारण लाहौर के गवर्नमेंट कालेज में इनको गणित पढ़ाने के लिए प्रोफेसरी मिल गई। क्रिश्चियन कालेज में भी इन्होंने अध्ययन का कार्य किया, परन्तु बाद में स्यालकोट में एक हाई स्कूल के हेड मास्टर लग गये। यह सारा कार्यक्रम दो साल में ही समाप्त हो गया। हम पहिले लिख चुके हैं कि धन्ना भक्त का प्रभाव तीर्थराम के जीवन पर बड़ा गहरा पड़ा। भक्त जी विशेष पढ़े लिखे व्यक्ति न थे, परन्तु पवित्रात्मा और वेदान्त के गूढ़ तत्वों के ज्ञाता अवश्य थे। आस पास के गाँवों की जनता इन पर बड़ी श्रद्धा रखती थी। उनके उपदेशों को श्रद्धालु लोग बड़ी उत्सुकता से सुनते थे।

तीर्थराम जी को भी जब कभी समय मिलता भगत जी के पास जाया करते और उनके उपदेशों को बड़े ध्यान से सुनते तथा उन पर विचार करते थे। यदि तीर्थराम को धन्ना भगत का सत्संग न मिला होता तो तीर्थराम जापान तथा अमेरिका में वेदान्त का झंडा फहरा सकते या नहीं इसमें सन्देह था। छात्रावस्था में भी तीर्थराम और धन्ना भगत में परस्पर पत्रव्यवहार होता रहा। एक पत्र में वे धन्ना भगत को लिखते हैं कि—"परमेश्वर मुझे बड़ा ही प्यारा लगता है" सभी को उससे प्रेम रखना चाहिए। संसार का एक तिनका भी बिना उसकी इच्छा के नहीं हिल सकता। जब तक नचाने वाला न हो कठपुतलियाँ नाच नहीं सकतीं। बिना बजाने वाले के बाँसुरी कभी बज नहीं सकती। इसी प्रकार संसार के सब काम उसी एक सत्ता की प्रेरणा से होते हैं" इन दो चार लाइनों से पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि तीर्थराम को विद्यार्थी-जीवन में ही कितना गूढ़ ज्ञान प्राप्त हो गया था। आखिर २६ अक्टूबर १८९७ ई० को उन्होंने एक पत्र अपने पिता जी को लिखा—जो कि बड़ा आश्चर्योत्पादक है। पाठकों के हितार्थ हम उसका उद्धरण ज्यों का त्यों नीचे लिखते हैं—

श्रीमान् परम पूज्य पिता जी प्रणाम।

आपका कृपा-पत्र पढ़ कर बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। आपके पुत्र—तीर्थराम का शरीर बिक गया, बिक गया; अब 'राम' अपना और पराया इसमें कुछ भी भेद नहीं समझता। दीपावली के दिन मैंने अपना शरीर श्रीकृष्ण भगवान् को अर्पण कर उन्हें जीत लिया है। अब आप जो कुछ चाहें मेरे मालिक से मांग लें। वे आपको अवश्य देंगे। एक बार निश्चय करके मांगिये तो सही। आज

कोई १६-२० दिन हो गये, वे बड़ी सावधानी से मेरा काम कर रहे हैं फिर भला आपका क्यों नहीं करेंगे। घबराना अच्छा नहीं। उनकी आज्ञानुसार ही सारा काम हुआ करेगा। श्रीकृष्ण ही हम गुसाइयों का धन है—अपना सच्चा धन छोड़ कर संसार की झूठी कौड़ियों के पीछे पड़ना उचित नहीं और उन कौड़ियों के न मिलने पर दुख करना तो बड़ी लज्जा की बात है। अपने मुख्य धन के आनन्द को एक बार अनुभव तो कीजिए" इस पत्र को पढ़कर सारा परिवार सुन्न हो गया पर क्या हो सकता था। महात्मा बुद्ध को गृहस्थ में रखने के लिए पिता शुद्धोधन ने कितने प्रयत्न किये पर एक दिन सोते हुए सारे परिवार को छोड़कर बुद्ध प्रसिद्ध महात्मा बन गये। इसी भांति तीर्थराम ने बिलखती हुई प्राण-प्रिया स्त्री, अपने छोटे बच्चों तथा वृद्ध पिता का त्याग किया। गृह-त्याग करते समय इनकी आयु केवल २६ वर्ष की थी। उन्होंने अपना नाम तीर्थराम से रामतीर्थ रक्खा। स्वामी रामतीर्थ ने सन्यास धारण कर जिस समय घर छोड़ा था उस समय उनके पिता, पत्नी, पुत्र, मित्र आदि सबकी मानसिक वेदना बहुत उमड़ी हुई थी, २६ वर्ष की अवस्था सन्यास धारण करने योग्य तो नहीं थी। क्योंकि अभी तक उन्होंने संसार में किसी प्रकार का सुख भोगा ही नहीं था। परन्तु जिसका चित्त संसार से पराङ् मुख हो चुका हो उसके लिए कोई भी समय सन्यास लेने का हो सकता है। विषय-निवृत्त व्यक्ति के आगे कोई भी वस्तु रुकावट नहीं डाल सकती। धीर, मनस्वी राम ने परिवार के कष्टों की परवाह न करके निश्चित सन्मार्ग की ओर कदम बढ़ाया था। उसी तरह माता पिता स्त्री आदि के मोह को तृणवत् समझकर महात्मा रामतीर्थ एक कठिन

व्रत पालन करने में तत्पर हुए। संसार से विरक्त होकर स्वामी जी ने अधिकतर समय महात्माओं की संगति में ही बिताया। इधर-उधर घूमते-फिरते स्वामी रामतीर्थ हरिद्वार जा पहुँचे। कुछ दिन वहां रह कर ऋषिकेश चले गये और ऋषीकेश से आगे ब्रह्मपुरी में उन्होंने अपना आसन जमाया। पास में गंगा माई बहती थी। प्राकृतिक दृश्य तथा पतित-पावनी भागीरथी का इनके हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बहने लगी और वे प्रार्थना करने लगे कि हे माता! या तो ब्रह्मानन्द का अनुभव करूँगा या तुममें अपने शरीर को अर्पण कर दूँगा। दृढ़-प्रतिज्ञ राम को निरन्तर उपनिषदों का मनन करने से ज्ञान का प्रकाश हुआ। सहसा इनका मन फिर उचाट हुआ और इनकी इच्छा घूमने फिरने की हुई। इस भ्रमण में इनकी नारायण स्वामी से भेंट हुई। बीच में एक बार ये अधिक बीमार भी हो गये थे, किन्तु ईश्वर की कृपा से स्वस्थ हो गये और इसके बाद इन्होंने अलिफ़ नाम की उर्दू की मासिक पत्रिका निकाली, जिसमें प्राय: वेदान्त के उपदेशों के लेख निकला करते थे। स्वामी राम अत्यधिक प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुके थे। ईसवी सन् १९०१ में मथुरा में एक धर्मोत्सव हुआ सब लोगों ने स्वामी राम को सभापति चुना। बड़े २ विद्वान स्वामी राम का भाषण सुनने आये थे, किन्तु व्याख्यान-दाताओं की अधिकता के कारण सभा का समय समाप्त हो गया। इसलिए स्वामी जी ने उठ कर कहा—सभा का नियत समय बीत चुका है अत: व्याख्यान देना नियम के विरुद्ध होगा। इसलिए राम यमुना के किनारे व्याख्यान देगा। यदि आप सुनना चाहते हैं तो वहां चलिये। जनता स्वामी के उपदेशामृतों को सुनने के लिए रात के आठ

बजे तक जमुना के किनारे बैठी रही। इसके अनन्तर मथुरा की पवित्र भूमि में चार महिने तक एकान्त-वास करके अप्रैल सन् १६०२ में हरिद्वार लौट आये। स्वामी जी पैदल यात्रा करते और रास्ते में श्रद्धालु भक्तों को उपदेश दिया करते थे। कुछ दिन हरिद्वार रहने के पश्चात् स्वामी जी नारायण स्वामी को साथ लेकर टिहरी रियासत में गये। वहां पहुँचकर इनकी महाराजा कीर्तिशाह से भेंट हुई। प्रथम मिलाप में ही महाराजा साहिब इनसे ऐसे प्रभावित हुए कि समीप ही गंगा किनारे इनके लिए एक पर्ण-कुटी बनवा दी और स्वयं महाराजा पैदल चलकर 'घंटों' तक इनके उपदेशों को सुना करते। इन्हीं दिनों जापान की राजधानी टोकियो में एक सर्वधर्म-सम्मेलन होने वाला था। समाचार-पत्रों द्वारा यह बात चारों ओर फैल गई। धर्मप्राण महाराजा कीर्तिशाह ने सोचा कि यदि ऐसे सर्व-धर्म सम्मेलन में भारत का कोई उच्च कोटि का विद्वान न पहुँचे तो बड़ी लज्जा की बात होगी अत: इस कार्य के लिए उन्होंने स्वामी राम को अधिक उपयुक्त समझा। आखिर महाराजा कीर्तिशाह की प्रार्थना से स्वामीराम को जाने के लिए तय्यार होना पड़ा। स्वामी जी को भी विदेश जाने का यह स्वर्ण अवसर मिल गया। नारायण स्वामी को साथ लेकर स्वामी राम कलकत्ता होते हुए जापान पहुँचे। टोकियो विश्वविद्यालय में आपका सर्व-प्रथम व्याख्यान हुआ। बाद में व्याख्यानों की धूम सी मच गई। विदेशी जनता ने इनके उपदेशों से अपूर्व शान्ति प्राप्त की। सारी की सारी जनता इनसे प्रभावित होकर इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी।

जापान में ही स्वामी जी की इच्छा हुई कि अमरीका की भी यात्रा की जाय। एक दिन वे अकेले ही अमरीका के लिए रवाना हो

गये। स्वामी जी के पास एक भी पैसा न था जब जहाज़ अमरीका पहुँचा तो सब लोग बड़ी उमंग से आगे बढ़ कर अपने २ मित्रों से मिले। ये चुपचाप एक कोने में बैठे रहे। एकाएक एक अमेरिकन की दृष्टि इन पर पड़ी वह एक समाचार पत्र का सम्वाददाता था। उसने इन से बातचीत की। वह भी बड़ा गुण-ग्राही था। उसने स्वामी रामकी पूरी सहायता की। अमेरिका वासियों ने आपका बड़ा स्वागत किया। वहां के निवासी इनके व्याख्यानों को बड़े चाव से सुनते थे। अमेरिका का प्रेजिडेण्ट भी इनको मिलने लिए दो बार आया। उसने इनसे प्रार्थना की कि "यदि आपको किसी चीज़ की आवश्यकता हो तो कृपया बतला दीजिए"। स्वामी जी ने वेदान्त के अनुसार अपनी आत्मा की सच्ची प्रेरणा से कहा कि दुनियां की सारी वस्तुयें राम की हैं। उसे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, राम बादशाहों का बादशाह है उसने रुपयों के लिए सन्यास धारण नहीं किया। अमरीका के सभी स्त्री पुरुष राम से प्रेम करने लगे थे। एक अमेरिकन महिला इनकी इतनी सेविका बन गई थी कि वह भारत में आई और उसने स्वामी जी के घर, परिवार, स्त्री पुत्रों का दर्शन किया। इस तरह करीब दो-अढ़ाई वर्ष तक स्वामी जी अमेरिका में रहे। वहां वे अपने हाथ से खाना बनाते स्वयं लकड़ी चुनकर सिर पर उठाकर लाते अधिक समय अमेरिका निवासियों को वेदान्त पढ़ाने तथा स्वयं अमेरिका के साहित्यिक ग्रन्थों को पढ़ने में बिताते। अब स्वामी जी ने वहां का कार्य समाप्त किया और वहां से भारत के लिए वापिस लौटे। रास्ते में मिश्र देशवासियों ने भी आपका बड़ा सम्मान किया। वहां

एक मस्जिद में फारसी भाषा में व्याख्यान दिया। फिर सन् १९०५ में स्वामी जी भारत में वापिस लौट आये। यहाँ आकर फिर नारायण स्वामी को लेकर उत्तराखंड की यात्रा को चल दिये। रास्ते में टिहरी नरेश से मिले, महाराजा ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और उनके अनुरोध से ही वशिष्ठाश्रम में रहकर भजन करने लगे। नारायण स्वामी ने भी आपकी बड़ी सेवा की। टिहरी दरबार से भोजन आदि का समुचित प्रबन्ध किया गया था। इससे इनको किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं हुआ पर स्वामी जी का स्वास्थ्य अच्छा ना रहा वे बीमार हो गये। इस लिये उन्हें स्थान परिवर्तन करना पड़ा। आत्म-ज्ञानी पुरुषों को अपनी मृत्यु का पहिले ही पता चल जाता है। स्वामी राम तो उच्चकोटि के आत्मज्ञानी थे। इसलिये इन्होंने एक दिन अपने सहचारी सेवक नारायण स्वामी को कहा कि "बेटा ! राम बहुत जल्दी अपना शरीर छोड़ने वाला है, उसकी तबीयत संसार से बिलकुल ऊब गई है। तुम गुफा में बैठ कर अपने स्वरूप का चिन्तन करना और राम की तरह प्रसन्न रहना" इस बात को सुनकर नारायण स्वामी के आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी।

सत्य पुरुषों की वाणी कभी असत्य नहीं होती। राम का मृत्यु समय समीप आ गया। दिवाली का पर्व था १७ अक्टूबर १९०६ को स्वामी जी इस असार संसार को छोड़ मोक्ष-धाम को प्राप्त हुए। इस समय आपकी आयु ३३ वर्ष की थी। स्वामी जी ने गंगा माता की गोद में अपना शरीर प्रवाहित किया। लोगों द्वारा जब यह खबर सुनी तो दरबार में भी खलबली मच गई। महाराजा ने लाश की तालाश करवाई। जब लाश

मिली तो स्वामी राम पद्मासन लगाये हुए थे मृत शरीर को फिर एक काठ के सन्दूक में बंद करके गंगा जी की धारा में प्रवाहित कर दिया।

यह बात प्रसिद्ध है कि स्वामी जी ने मरने से कुछ दिन पहले एक लेख लिखा, जिस में मृत्यु के लिये आह्वान था। "ऐ मृत्यु तू आ, बड़ी खुशी से आ। याद रख, मुझे इस शरीर की किञ्चिन्मात्र भी परवाह नहीं। मेरे पास तो वह शरीर है जिससे मेरा व्यवहार रुक नहीं सकता। मैं तो चन्द्रमा की किरणों में .न पहले तार धारण कर जीवन व्यतीत कर सकता हूँ। पहाड़ नदी-नालों के वेश में मस्त .रह सकता हूँ। ऐ मृत्यु ? तू नहीं जानती मैं समुद्र की लहरों के साथ नाचता फिरूँगा। मैं अनेक रूप हूँ। इस रूप में पर्वत शिखरों से उतरा, कुम्हलाए पौधों को हरा-भरा किया, सुमनों को हँसाया, बुलबुलों को रुलाया सोतों को जगाया, खड़ों को चढ़ाया, इसे छेड़, उसे, छेड़, तुझे छेड़, यह आया, वह गया, न कुछ साथ रक्खा, न किसी को हाथ लगाया" इत्यादि। इस पत्र से स्पष्ट होता है कि वे सच्चे जीवन-मुक्त थे। जीवन-मुक्त पुरुष एक २ अणु में अपनी आत्मा का प्रतिबिम्ब देखते हैं। उनकी दृष्टि में भेद-भाव नहीं रहता। शत्रु मित्र, मान अपमान, राग द्वेष, जय पराजय हानि-लाभ, सुख दुख आदि संसार के द्वन्द्वों को एक दृष्टि से देखना और अनुकूल होने पर सुख, प्रतिकूल होने पर दुख का अनुभव न करना ही जीवन-मुक्त का लक्षण है। प्रायः ज्ञानी पुरुष शुष्क निःस्पृह होते हैं, किन्तु स्वामी राम का जीवन शान्ति और प्रेम से भरा हुआ प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण

एक सरस राग था। उन्होंने मनुष्यों को घृणा से प्रेम और युद्ध से शांति का पाठ पढ़ाया। उनके व्याख्यान बड़े सरस और भाव-पूर्ण होते थे। व्याख्यान देते समय वे स्वयं भी रो पड़ते थे। स्वामी राम अपने को राम बादशाह कहा करते थे। उनके उपदेश 'राम बादशाह के हुक्मनामे' नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका अध्यात्म चिन्तन इतना प्रबल था कि ये महीनों तक तक मौनव्रत धारण कर लेते थे। बहते हुए जल और स्वच्छ नीलाकाश को देखकर उन्हें बहुत आनन्द होता था और शान्ति मिलती थी। स्वामी जी के उपदेश पुस्तकों के रूप में मिलते हैं। यों तो भारत में मृत्यु-पर्यन्त उन्होंने उपदेश दिये परन्तु जितनी तन्मयता तथा सरलता अमेरिका में दिये गये उपदेशों द्वारा मिलती है उतनी अन्यत्र नहीं। एक समय आपने उपदेश दिया कि इस संसार में उन्नति का एक मात्र साधन कर्म है। प्रतिक्षण कर्म करने से ही सफलता मिलती है। पूर्ण ज्ञानी होते हुए भी स्वामी राम कर्म का उपदेश करते थे। प्रायः देखा गया है कि ज्ञानी लोग कर्म का खंडन ही करते हैं। किन्तु स्वामी जी कर्म की प्रधानता मानते थे, वास्तव में सत्य भी है कि मनुष्य कर्म-योगी बनने से ही ज्ञान योगी बन सकता है। आगे चलकर वे कहते हैं कि—कर्म करते २ आप अपने शरीर को भूल जाओ। शरीर और मनको एक साथ लगा लो। कवि उसी समय कविता करता है जब वह यह भूल जाता है कि मैं कविता कर रहा हूँ। वेदान्त इस बात का उपदेश करता है कि सच्चे कर्म द्वारा अपने आप को भूल जाओ जीवन की बातों को उस महान् शक्ति पर छोड़ दो। जिसे परमेश्वर के नाम से पुकारते हैं। योग और तपस्या की बजाय

अपने आप को कर्म में लीन कर देना ही आत्म-साधना है। जब तक प्राणी इस शरीर को कर्म-रूपी आग में बार-बार नहीं गलाता तब तक आत्मा का प्रकाश नहीं हो सकता। दीपक यदि तेल और बत्ती को न जलाये तो उसको प्रकाश के स्थान पर अन्धकार की ही प्राप्ति होगी। यदि दीपक को सफलता प्राप्त करनी है तो उसको जलना पड़ेगा और तेल तथा बत्ती की चिन्ता छोड़नी पड़ेगी। इसी भाँति यदि मनुष्य चाहता है कि मुझे सफलता मिले, मेरी उन्नति हो तो कठिन कर्मों द्वारा अपने शरीर को कर्म की आग में भस्म कर डाले। सोते-जागते उठते-बैठते केवल कर्म करने की धुन में ही लगा रहे। सफलता के शिखर पर हम तभी चढ़ सकते हैं जब कि हम अपने आप को भूल कर कर्मरूप बन जायें। पाठकों को यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि वेदान्त शास्त्र के ज्ञाता स्वामी राम किस प्रकार कर्म का उपदेश कर रहे हैं। इतना ही नहीं बल्कि उन्हों ने तो यहां तक कह दिया है कि किसी भी कार्य की सफलता के लिए अपने तन मन को बलिदान कर दो। कार्य करने में संलग्न रहो निरन्तर परिश्रम करने से एक दिन मोक्ष-प्राप्ति का अनुभव स्वयं होने लगेगा। तुम परिश्रम की सूली पर जब अपने आपको चढ़ादोगे तो सिद्धियां अपने आप पीछे २ दौड़ी चली आवेंगी। दोनों जब तक खाक के साथ घुल-मिल नहीं जाता तब तक उसमें अंकुर नहीं निकलता। अंकुर निकलना ही उसकी सफलता है। नहीं तो वह मिट्टी में मिला ही क्यों था। गीता में भगवान् कृष्ण ने यहाँ कर्म तथा कर्मयोग का उपदेश अर्जुन को यों दिया है "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते" कह कर

दोनों की मंजिल एक ही बताई है, वहाँ इस बात का भी स्पष्टीकरण कर दिया है कि वही कर्म मुक्ति के धाम तक पहुँचा सकता है जो निष्काम (स्वार्थ रहित) हो। यही बात स्वामी राम भी कहते हैं कि कर्म के साथ त्याग की बड़ी आवश्यकता है। कर्म करने पर फल न चाहना यह कितनी कठिन तपस्या है। मैं काम कर रहा हूं इसका फल मुझे अवश्य मिलेगा यह भावना त्याग देना ही-सर्वश्रेष्ठ त्याग है। थोड़ी देर को मान लिया जाय कि कर्म-कर्ता मनुष्य यदि फल की भी इच्छा कर ले तो क्या हानि है. परन्तु विचार-दृष्टि से देखा जाय तो सफलता न होने पर उसे महान् मानसिक कष्ट होता है। यदि पहले से ही यह भावना दृढ़ बना ली जाय कि कर्म करना मेरा ही कर्तव्य है फल ईश्वर के अधीन है। उसकी इच्छा है दे न दे, तो फिर कर्म-कर्ता को फल मिलने या न मिलने पर न तो हर्ष होता है और न ही कष्ट इन दोनों बातों के साथ ही स्वामी राम का कथन है कि मनुष्य मात्र को चाहिए कि प्रत्येक प्राणी से प्रेम करे। सद्भावना बहुत उत्तम वस्तु है। इस गुण में इतना जादू भरा है कि प्रत्येक को मोहित किये बिना नहीं रहता। प्रेम ही एक ऐसी वस्तु है जो सारे संसार को अपनी मधुर-धारा से सींचती चली आ रही है। प्रेम का जन्म आत्मा से होता है। जो प्राणी दूसरे प्राणी से सच्चा प्रेम करता है वह ईश्वर से प्रेम करता है। किन्तु यहां पर त्याग की बड़ी आवश्यकता है, स्वार्थ प्रेम-वासना में बदल जाता है। वासना-मय प्रेम स्थिर नहीं रह सकता। अपने व्याख्यानों में स्वामी जी ने यह भी—बतला दिया कि ईश्वर-प्राप्ति या लोक में उन्नति के लिए मन की प्रसन्नता भी ज़रूरी है। सदा प्रसन्न रहो, शीत-

चित्त रहो। इच्छाओं के आधीन न होकर उन्हें अपने मन के आधीन रखो। वेदान्त शास्त्र का मत है कि जो समय बीत चुका है या अभी नहीं आया उसकी चिन्ता न करो वर्तमान समय को हँसते २ व्यतीत करो। अपने मन की प्रसन्नता से सारा संसार प्रसन्न और उसके दुखी होने से दुखी। हम संसार को सुखी या दुखी इसी लिए कहते हैं कि हम स्वयं सुख-दुख का अनुभव करते हैं। मनुष्य की उन्नति इसी में है कि वह आत्मविश्वासी हो। वेदान्त शास्त्र का कथन है कि तुम अपने आपको तुच्छ और निकम्मा मत समझो बल्कि अपने आपको शुद्ध सच्चिदानन्द पर ब्रह्म का ही स्वरूप जानो। जिस समय मनुष्य ने आत्मा का विश्वास छोड़कर शरीर को ही सब कुछ समझा वहीं उसकी हार हुई। संसार में जब हम दूसरों पर भरोसा रखते हैं तो प्रत्येक वस्तु चली जाती है और जब हम केवल अपनी आत्मा पर ही विश्वास करते हैं तो प्रत्येक वस्तु आप से आप मिल जाती है। कभी भी अपने को तुच्छ न समझो। जैसा सोचोगे वैसा ही बन जाओगे। यदि तुम सोचते हो कि हम परमात्मा का ही रूप हैं तो तुम्हारे परमात्मा रूप होने में किञ्चिन्मात्र सन्देह नहीं। आत्म-विश्वास ही सर्व-श्रेष्ठ वस्तु है। स्वामी जी कहते हैं कि ऐ संसार के मनुष्यों! तुम लोग बाहरी कीर्ति, धन, दौलत, ज़मीन आदि पर भरोसा रखते हो, किन्तु ये मुक्ति देने वाले नहीं हैं। इसलिए सावधान हो जाओ। प्रकृति का नियम है कि जब मनुष्य बाहरी पदार्थों पर भरोसा करने लगता है तभी उसका पतन हो जाता है और जब मनुष्य बहिर्मुख वृत्ति से हटकर अन्तर्मुख वृत्ति हो जाता है तो ज्ञान का प्रकाश उसमें

"राम नहीं चाहता है कि पादरियों के ढंग के मनुष्य अमेरिका से भारतवर्ष आयें जो कि बड़े बड़े शानदार बँगलों में रहते हैं और गाड़ियों पर चलते फिरते हैं । राम चाहता है कि भारतवर्ष में वे लोग जांय जो सचाई के लिये शहीद हों, जो असली कार्य करने वाले हों, जो उनके साथ फटे चीथड़े कपड़े पहनने में सतुष्ट हों । मक्कारी और बेइमानी से उन्हें ईसाई बनाना ही केवल अपना उद्देश्य न समझें" । इन शब्दों से स्वामी जी ने पादरियों की पोल खोल दी । ईसाई धर्म को मानने वाले जनसमुदाय में उनके धर्म-प्रवर्तकों पर आक्षेप करना आसान काम नहीं था । यह वही कर सकता है जिसको आत्मा के विषय में—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

का भली भांति ज्ञान हो । रामतीर्थ अद्वैतवाद के समर्थक होते हुए भी प्रेम की मूर्ति थे । जहाँ वे 'ओम्' का उच्चारण करते चारों ओर से जंगली पशु उनकी ओर घिरे चले आते । उनकी वाणी में इतना आकर्षण था कि सभी प्राणी अपने आप उनकी ओर चले आते थे । वेदान्त शास्त्र का कथन है कि जब 'मैं' 'तू' का भेद-भाव समूल नष्ट हो जाता है तभी आत्मज्ञान होता है । स्वामी रामतीर्थ ने अपने आपको 'मैं' शब्द से कभी व्यक्त नहीं किया, बल्कि अपने आप को राम बादशाह कह कर पुकारा करते थे । इसी बात को लेकर वे प्रायः गुनगुनाया करते थे—

बादशाह दुनिया के हैं मुहरे मेरी शतरंज के ।
दिल्लगी की चाल है सब रंग सुलह व जङ्ग के ॥

स्वामी राम अपने सेवकों को सदा शिक्षा दिया करते थे कि तुम अर्जुन की तरह रणक्षेत्र में (जीवन संग्राम में) डटे रहो, किन्तु घोड़ों की रास भगवान् कृष्णचन्द्र के हाथ में रहने दो। वास्तव में इन शब्दों में सारी गीता का सार आ जाता है। महाभारत के युद्ध-क्षेत्र में शत्रुओं से संघर्ष करते हुए वीर अर्जुन को पसीना पोंछने तक की फुर्सत न थी। उस कर्मवीर ने तन मन से एक होकर युद्ध लड़ा, किन्तु जिधर रथ जाता उधर ही बाणों की वर्षा होती थी कहां रथ ले जाना चाहिये और कहां नहीं, इसका उत्तरदायित्व भगवान् कृष्ण चन्द्र पर था। रथ के घोड़ों की बागडोर उनके ही हाथ में थी। यदि घोड़े कुमार्ग-गामी बन जाते हैं तो इसका उत्तर स्वयं भगवान् कृष्ण देंगे। इसी भांति ऐ मनुष्यों ! इस संसार-क्षेत्र में दिन-रात कर्म करते जाओ, परन्तु घोड़ों के समान चञ्चल इन्द्रियों की रास भगवान् के हाथ में दे दो। कभी राम कहते थे कि जहां युक्ति से काम नहीं चलता वहां प्रेम से निकल सकता है। "जो इन्द्रियों के दास हैं उनको दूसरी आत्महत्या करने की जरूरत नहीं।" यह वाक्य भी गीता से सम्बन्ध रखता है। जिस प्राणी ने इन्द्रियों को अपने वश में नहीं किया, अवश्य ही उसकी इन्द्रियां उसके मन तथा आत्मा को कुमार्ग में ले जायेंगी। कुमार्ग में जाना ही आत्महत्या है। गीता के अनुसार स्वयं स्वामी राम का कहना है कि—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्, अर्थात् अपनी "आत्मा का अपने आप उद्धार करे, क्योंकि"

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः

कोई किसी का शत्रु एवं मित्र नहीं अपितु सुपथ पर चलने

से अपनी आत्मा ही अपना बन्धु तथा कुपथ पर चलने से अपनी आत्मा ही अपना शत्रु बन जाती है।

स्वामी राम में बचपन से लेकर ही तीव्र बुद्धि और स्मरण शक्ति के अतिरिक्त परिश्रम और अध्यवसाय की मात्रा अधिक थी। वे प्रातः पाँच बजे से लेकर रात के ग्यारह बजे तक निरन्तर काम में लगे रहते थे। यही कारण था कि इन का शरीर दुबला-पतला था, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे बल-हीन थे। हिमालय की उपत्यका में जब वे एकान्त वास करने जाते उस समय ५०-५० मील तक प्रतिदिन पैदल यात्रा करते थे। इसी भाँति अमेरिका के जङ्गलों में वे इस प्रकार दौड़ते थे कि मानों कोई सैनिक परेड कर रहा हो। कहने का सारांश यह कि जैसे आध्यात्मिक शक्ति में स्वामी राम सबसे ऊँचे थे वैसे ही शारीरिक शक्ति भी उन में किसी से कम न थी। वैराग्य-वृत्ति धारण करने में प्रायः विरक्त उदासीन रहते हैं, किन्तु राम का मुखमण्डल सदैव प्रसन्न रहता था। उन का मन सांसारिक वासनाओं से दूर था और श्रोता गणों को भी वे सदा सचेत करते थे कि वासनाओं को समूल नष्ट कर दो। यदि तुम स्वयं उन को नष्ट नहीं करोगे तो वासना-जाल में फंस कर तुम्हें कष्ट भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार को लक्ष्य रख कर एक स्थान पर स्वामी जी ने लिखा कि, "मेरे सामने एक नवयुवक ने सुगन्ध लेने के निमित्त एक गुलाब का फूल तोड़ा। ज्यों ही वह उसे सूँघने को उद्यत हुआ, पुष्प में बैठी हुई मक्खी ने उसकी नाक में डंक मारा। फूल नवयुवक के हाथ से गिर पड़ा और वह उसकी वेदना से रोने लगा। निस्सन्देह विषयों से परिपूर्ण कोई भी ऐसा गुलाब नहीं है, जिसमें दुःख-रूपी मक्खी न छिपी बैठी हो। जो वासनाएँ रोकी नहीं जा

सकतीं। उनके लिए दण्ड मिलना अनिवार्य है।"

स्वामी जी का सिद्धान्त था कि वासनायें किसी न किसी रूप में मानव-समाज को दुख देती रहती हैं। विदेशों में भ्रमण करने के बाद स्वामी जी भारत में वापिस आये तो उन्होंने व्याख्यानों का ताँता सा बांध दिया। वे चाहते थे कि अन्य देशों की भांति भारतवर्ष की भी उन्नति हो। जहाँ भी स्वामी जी का व्याख्यान होता वहीं आत्मज्योति का प्रकाश हो जाता था। उत्तर भारत का कोई भी ऐसा स्थान न होगा जहाँ स्वामी राम ने अपने मधुर उपदेशों से जनता को आनन्द-समुद्र में निमग्न न किया हो। स्वामी जी ने कुछ ग्रन्थ भी लिखे, परन्तु अधिक महत्व तो उनके उपदेशो का ही है। उनके उपदेश सारे के सारे अंगरेजी में मिलते हैं, परन्तु श्रद्धालु भक्तों के उद्योग से अब उनका हिन्दी में भी अनुवाद हो गया है। उनके अन्तःकरण की ध्वनि इन उपदेशों से गुंजरित होती रहती है। उन्होंने मनुष्यों को सदा यही शिक्षा दी कि घृणा को त्याग कर प्रेम करना सीखो. कलह की जगह शान्ति से समय व्यतीत करना उत्तम है। आश्चर्य तो इस बात का है कि शुष्क ज्ञान की चर्चा करते समय भी वे हृदय की भावुकता के प्रबल उद्वेग से स्वयं रो पड़ते थे। कभी महीनों तक मौन व्रत धारण कर लेते तो कभी अचानक फूटी हुई ज्वालामुखी के समान वे अपने विचारों को प्रकट करने लग जाते। प्रकृति की लुभावनी छटा देख कर वे अपनी आत्मा में शान्ति का अनुभव करते थे। कभी आत्म-चिन्तन में विभोर होकर आँखें बन्द किये घंटों बैठे रहते। प्रायः जीवन-मुक्त पुरुषों के सारे लक्षण इनमें घटते हैं। यदि इनका दीर्घ जीवन होता तो सचमुच ही सारे संसार का और विशेष कर भारत का बड़ा उपकार होता, परन्तु यह

तो ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है, वह जब चाहे शरीर से प्राणों को अलग कर दे। फिर भी इतनी छोटी अवस्था में स्वामी राम जो कुछ भी कर गये वह अन्यत्र असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। आत्मा का साक्षात्कार तो अनेकों ने किया पर आत्मज्ञानी होते हुए भी प्राणीमात्र के कल्याण की कामना करना इन्हीं में देखा गया है। इनकी भक्ति-भावना से प्रभावित होकर एक दिन जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य जी ने कहा था कि 'इस समय तक अनेक स्थानों में हमने भ्रमण किया, किन्तु रामतीर्थ की तरह भगवद् भक्त हमने अभी तक नहीं देखा"। स्वामी शंकराचार्य के वचन अक्षरशः सत्य थे। स्वामी राम जब हरिद्वार या ऋषीकेश के जङ्गलों में दूर तक चले जाते तो अपने साथ उपनिषद् की पुस्तक अवश्य ले जाते। और जब वे समझते कि अब मैं निर्बाध स्थान पर आगया हूं तो पुस्तक खोलकर आत्म-चिन्तन करने लग जाते। सन्यास धारण करने से पूर्व जब स्वामी राम ऋषीकेश से ६ मील उत्तर की ओर ब्रह्मपुरी में एकान्त साधना कर रहे थे तो उन दिनों इन के घर वालों ने एक पत्र भेज कर उन्हें घर वापिस बुलाने का आग्रह किया; किन्तु स्वामी राम उसके उत्तर में लिखते हैं कि. ईश्वर के चिन्तन से राम का शरीर बहुत दुर्बल हो गया है, अब वह गृहस्थआश्रम में अपना जीवन सुख से व्यतीत नहीं कर सकता। इसलिए अब घर लौट आने से उसको क्या लाभ होगा। अभी तक वह लोक-निन्दा से डरता था, किन्तु अब उसको किसी बात की परवाह नहीं। अब वह परमात्मा से मिलने की कोशिश कर रहा है आप लोग भी सर्वान्तिर्यामी उसी ईश्वर का चिन्तन कीजिए।"

मनुष्य के जीवन में होने वाली घटनाओं का अङ्कुर उनके

बाल्यकाल में—ही प्रकट हो जाता है। स्वामी राम का बाल्यकाल इनकी फूफी की देख रेख में कटा, वह बड़ी धार्मिक विचारों की थी चाहे उसकी सद्भावना का यह परिणाम हो, परन्तु स्वामी राम जब रोते थे तब इनके सामने यदि ओ३म् का उच्चारण कर दिया जाता तो झट से वह हँसने लग जाते। इससे यह बात स्पष्ट है कि इनके पूर्व जन्म के संस्कार इतने उज्ज्वल थे कि ओ३म् का अर्थ न जानने पर भी शब्द श्रवण-मात्र से ही आनन्द प्राप्त कर लेते थे। इसलिए यदि हम यह कहें कि स्वामी राम का ईश्वर के पर्यायवाची ओ३म शब्द से जन्म-जात प्रेम था तो अत्युक्ति न होगी। विद्यार्थी-जीवन में यद्यपि आशातीत परिश्रम करते थे फिर भी भरोसा ईश्वर का ही रखते। साधरण मनुष्य की भाँति कभी हाथ नहीं फैलाये। यदि किसी वस्तु की अत्यन्त आवश्यकता होती तो वे ईश्वर को सम्बोधित करके कहते—'परम पिता इस समय आप ही मेरे सहायक हो, मैं तो अपना सब कुछ आपको दे चुका हूँ, अब चाहे रखो चाहे मारो मेरी कोई हस्तो नहीं जो आपकी इच्छा के बिना कोई काम कर सकूँ। सर्वशक्तिमान् प्रभु आप सब के हृदय की बात जानते हैं, इस समय मुझे अमुक वस्तु की आवश्यकता है आपकी इच्छा हो तो कृपादृष्टि कीजिए"। वास्तव में ईश्वर गरीबों की तथा अपने अनन्य भक्तों की पुकार अवश्य सुनता है। जिन भक्तों ने अपना भरोसा ईश्वर पर ही रखा हुआ है उनकी देख-रेख उनका पालन-पोषण वह अवश्य ही करता है। भगवान ने गीता में इस बात को स्पष्ट रूप में कहा है कि—"तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" अर्थात हे अर्जुन! मैं अनन्य-भाव से भक्ति करने वाले उन भक्तों का योगक्षेम (निर्वाह)

अवश्य करता हूं। भगवान् ने यह बात केवल कही ही नहीं बल्कि ध्रुव और प्रह्लाद जैसे भक्तों की पूर्ण-रूप से सहायता भी की है। स्वामी राम ने एकमात्र ईश्वर के सहारे बिना पैसे विदेशों की यात्रा की। जब स्वामी जी ने जापान से अमेरिका के लिए प्रस्थान किया तो उनके पास उस समय एक भी पैसा नहीं था। परन्तु उनक ईश्वर पर पूरा भरोसा था, इसलिए वे निर्भय होकर अमेरिका गये और वहां इन का अच्छे से अच्छा प्रबन्ध हो गया। स्वामी जी का मधुर मिलन इतना आकर्षक था कि जो अपरिचित व्यक्ति इन से एक बार भी आकर मिलता वह यह कहे बिना न रहता कि स्वामी राम से मेरी जन्म जन्मान्तर से जान पहिचान है। पोर्टलैंड राम सुसाइटी के सभापति जज मिस्टर ने कहा था, "जब राम से मेरी पहली मुलाकात हुई तो उनको देखते ही मेरे हृदय में उनके लिये एक तरह का प्रेम पैदा हो गया, वैसा प्रेम पहिले किसी को देखने से नहीं हुआ था।"

प्रायः ये बातें इन महापुरुषों में होती हैं जो सारे प्राणियों में अपनी आत्मा का ही प्रतिबिंब देखते हैं। उनकी वाणी प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर प्रभाव डालती है। वास्तव में संसार में न कोई अपना सगा सम्बन्धी है न पराया। मन ने जिसको अपना समझ लिया वही अपना बन जाता है चाहे वह परदेशी हो या स्वदेशी और मन द्वारा स्वीकृत न होने पर अपने कुटुम्बी भी पराये बनते देखे गये हैं। फिर आत्मदर्शी राम तो सर्वत्र आत्मा का प्रतिबिम्ब देखते थे। राम स्वामी इस बात से सदा सावधान रहते थे कि मेरे मन दोबारा सांसारिक प्रपञ्च में न फँस जाय। संसार म भय से बढ़ कर कोई बुरी बात नहीं। स्वामी राम

कहते थे कि यदि कोई मुझ से पूछे तो मैं अपने आप को भय से दुःखी करने की अपेक्षा जल में डूब मरना पसंद करूंगा चोर घर में तभी घुसता है जब वह सुरक्षित नहीं होता। यदि उस में सदा दीपक जलता रहे तो उसकी हिम्मत न पड़ेगी कि वह तुम्हारे घर की एक भी वस्तु उठा सके। इसी प्रकार अपने हृदय में सच्चाई की रोशनी हमेशा जलाये रखो। बस फिर भय या लालच की क्या शक्ति जो आपको अपने जाल में फँसा सके। हाथी का डीलडौल सिंह से कहीं बहुत बड़ा होता है किन्तु उसके मनमें शेर का भय हर समय बना रहता है, अतः शेर की एक ही गर्जना को सुनकर मारे भय के वह थर-थराने लगता है। डरपोक हाथी हर समय यही सोचता रहता है कि कहीं मेरा शत्रु मुझ पर हमला कर मुझे खा न जाय। यद्यपि सिंह का शरीर छोटा है, किन्तु वह अपने को हाथी से बलवान समझता है, यही कारण है कि सौ पचास हाथियों के झुण्ड पर बलवान शेर आक्रमण कर देता है। स्वामी राम की इतनी गहरी सूझ थी कि वे शास्त्रों की प्रत्येक बात को लौकिक दृष्टान्तों द्वारा सीधे और सरल शब्दों में समझाते जिस से श्रोता के मन में वह बात जम जाती और स्वामी जी की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता था। उनका तो यहाँ तक विश्वास था कि मनुष्य ईश्वर बन सकता है। ईश्वर की ज्योति का साक्षात् कार कर सकता है। वे कहते थे कि यदि तुम ईश्वर की ज्योति प्राप्त करना चाहते हो तो और कुछ नहीं केवल वासनाओं के काले परदे को अपने मन से परे फैंक दो। कभी अपने मन में डरो नहीं, तुम तो स्वतन्त्र हो। देखने में जो दासत्व की बेड़ियां प्रतीत होती है वस्तुतः वही स्वतन्त्रता की मालाएँ हैं।

तुम्हें कोई वस्तु हानि नहीं पहुंचा सकती, जब तक कि हानि-कारक वस्तु को तुम स्वयं न बुलाओ। तुम्हें कोई तलवार नहीं काट सकती जब तक कि तुम यह न सोचो कि यह काट सकती है। टेढ़ी चाल चलना छोड़ दो, मिथ्या-विचारों के पुल न बांधो, कौन सी शक्ति संसार में फिर शेष रह सकती है जो आकर तुम्हारे सामने सर न झुकाये। पानी का बुलबुला जब तक अलग है तब तक बुलबुला है किन्तु फूटते ही वह समुद्र हो जाता है। इसी भांति जब तक तुम अपने को ईश्वर से पृथक् समझते हो तब तक तुम से ईश्वर भिन्न है। पर जब माया के पर्दे को परे हटाकर अपनी आत्मा को परमात्मा का एक अंश समझ लोगे तभी तुम्हें मुक्ति मिल जायेगी। इतने उच्च विचार हो जाने के अनन्तर संसार की कोई शक्ति नहीं जो तुम्हारे आगे रुकावट बन कर रह सके। स्वामी जी का कथन है, जब तक तुम्हें इस बात का अनुभव न हो कि हम में और संसार के अन्य लोगों में कोई अन्तर नहीं है, जब तक तुम्हें यह न मालूम हो कि हम सब और परमात्मा एक ही हैं तब तक तुम्हें सफलता नहीं मिल सकती। आत्मा की आवाज़, आत्मा की भावना अवश्य अपना प्रभाव दिखाती है। एक मनुष्य यदि आत्मा की सच्ची प्रेरणा से कोई काम करता है तो वह अवश्य पूरा होता है। एक स्थान पर स्वामी जी कहते हैं कि आध्यात्मिक प्रेम अर्थात् निःस्वार्थ प्रेम से तुम जिसको चाहो वश में कर सकते हो। पुराने समय में ऋषि मुनियों के आश्रमों में मृग-शेर, सांप-मोर, बिल्ली-चूहे, साथ रहते थे तथा आश्रम वासियों के साथ मृग तथा शेर साथ खेलते रहते थे। इसका कारण यही था कि उन सब निःस्वार्थ भावना थी, सच्चा आत्म-प्रेम था। इसी विषय में

स्वामी जी उदाहरण देकर यों कथन करते हैं—"एक राजा किसी जंगल में शिकार खेलने को गया। शिकार का पीछा करते हुए राजा अपने साथियों से बिछुड़ गया। अधिक दूर निकल जाने पर प्यास से व्याकुल हो राजा एक सुन्दर बाग में चला गया। राजा शिकारी के भेष में था, माली ने राजा को नहीं पहिचाना। परन्तु जब उसने कहा कि मैं बहुत प्यासा हूं जो कुछ भी पीने के लिए तुम्हारे पास हो ले आओ। माली के हृदय में उस के प्रति दया की भावना जागृत हुई; वह सीधे बाग में गया और कुछ अनार तोड़ उनका रस निचोड़ एक प्याला भर कर उसने राजा को दे दिया। राजा ने रस का प्याला पी लिया, किन्तु प्यास की अधिकता के कारण माली से और रस लाने को कहा। माली लेने के लिए चला गया। इधर राजा के मन में सद् भावना की जगह बुरे विचार होने लगे। उसने सोचा इस बाग में बड़े फल-फूल दिखाई देते हैं, माली आधे मिनट में ही शरबत तय्यार करके ले आता है। इसलिए इस बाग के मालिक पर भारी कर लगा देना चाहिए। उधर माली ने देर लगानी शुरू कर दी। राजा आश्चर्य चकित हो कहने लगा पहिले-पहल तो माली बहुत जल्दी आगया था, परन्तु इस बार तो एक घंटे से भी अधिक समय हो गया औ माली नहीं आया। थोड़ी देर के बाद जब माली आधा प्याला लेकर आया। राजा ने उससे पूछा—क्या कारण है कि पहिले प्याला भरा हुआ था इसबार आधा है। माली साधारण कोटि का मनुष्य होने पर भी आत्म ज्ञानी था। उसने उत्तर दिया जब मैं पहिले रस का प्याला लेने गया था तो राजा की नीयत अच्छी थी और जब मैं दूसरा प्याला लेने को गया उसका उदार स्वभाव अवश्य बदल गया होगा।

यही कारण है कि अनारों ने रस देना कम कर दिया, इसके अतिरिक्त मैं दूसरा कारण नहीं समझ सकता" वास्तव में यही बात सची थी। बाग में प्रवेश करते समय राजा के मन में वहाँ के लोगों के प्रति उदार भावना थी। वह सोचता था कि यहां के लोग गरीब हैं। इनकी सहायता करनी चाहिए। परन्तु माली द्वारा लाये गये अनारों के रस को देखकर उसके विचार बदल गये। राजा ने ज्यों ही अपनी आत्मा में कलुषित भावों को स्थान दिया वृक्षों ने रस देना बंद कर दिया। स्वामी राम कहते हैं कि वृक्षों में भी वही आत्मा काम कर रही है जो हमारे में। आत्मा सब की एक है, यदि एक प्राणी की आत्मा में विशुद्ध भावना है तो दूसरे की आत्मा पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ेगा। स्वामी जी के इन उपदेशों से पाठकों को भली भाँति समझ लेना चाहिए कि उनको आत्मज्योति का कितना प्रकाश प्राप्त था।

वे एक उच्च कोटि के महात्मा थे। संसार में वही लोग अपनी कीर्ति को अमर कर सकते हैं। जिनके हृदय में जनता के प्रति सहानुभूति है, जो सब पर दया करते हैं। लोक और परलोक का सच्चा रास्ता दिखाते हैं। स्वामी रामतीर्थ भारत के उन सन्यासियों में से थे जिन्होंने अपने आप को भवसागर से मुक्त कर लिया तथा मानव-समाज का भी अनिर्वचनीय कल्याण किया। हमें पूर्ण आशा है कि मुक्ति की जिज्ञासा रखने वाले लोग आपके सर्वदा कृतज्ञ बने रहेंगे।

प्रकाशक:—भारद्वाज पुस्तकालय गणपत रोड, अनारकली लाहौर
मुद्रक:—लाहौर आर्ट प्रेस, १६ अनारकली लाहौर।

पंजाब केसरी लाला लाजपतराय

प्राकृतिक नियम के अनुसार संसार का प्रत्येक प्रान्त एक ऐसे वीर कर्मण्य तेजस्वी पुरुष को जन्म देता है जिससे उसका अपना मुख ही उज्ज्वल नहीं होता वरन् संसार का भी महान् उपकार होता है। लाला लाजपतराय भारतवर्ष के इने-गिने नेताओं में से एक थे। यों तो लाला जी का नाम लेते ही सहसा पञ्जाब की ओर दृष्टि पड़ती है, क्योंकि वीर पुरुष पञ्जाब भूमि का ही यह सौभाग्य है कि जिसकी गोद में लाला लाजपतराय जैसे मनस्वी कर्मवीर ने बालक्रीड़ायें की हैं। फिर भी लाला जी एक प्रान्त के होते हुए भी सार्वदेशीय, माने जाते हैं। उनकी सेवा-भावना केवल पञ्जाब के लिए ही नहीं अपितु सारे भारतवर्ष के लिए थी। अपने जीवन-काल में उन्होंने जो सेवा-कार्य किया उसमें किसी जाति, किसी प्रान्त और किसी देश का भेद-भाव नहीं रखा। हाँ इतना अवश्य है कि उत्तरीय भारत के नवयुवकों में क्रान्ति की लहर उठाने का श्रेय लाला जी को ही है। भारतीय संस्कृति, वेश-भूषा और धर्म की रक्षा करना लाला जी का नैसर्गिक गुण था।

लाला लाजपतराय का जन्म ई० सन् १८६५, २८ जनवरी को लुधियाना ज़िलाकेअन्तर्गत जगरांव नामक गांव में हुआ। ये जाति केअग्रवाल वैश्य थे। आपके पिता का नाम राधाकृष्ण और पितामह का नाम रल्लामल था। रल्लामल जी पहिले पटवारी थे, परन्तु बाद में एक छोटी सी दुकान से अपने परिवार का खर्च चलाते रहे। उनके पुत्र राधाकृष्ण पढ़ने-लिखने में बड़े चतुर थे। उर्दू मिडिल

और नार्मल परीक्षा पास करने के उपरान्त ये अपने गांव जगरांव में ही स्कूल में अध्यापक लग गये थे । राधाकृष्ण जी के विचार आर्यसमाजिक थे इसलिए पिता का प्रभाव पुत्र पर भी पड़ना स्वाभाविक था । यही बात है कि लाला लाजपतराय एक कट्टर आर्यसमाजी हुए। इनके पिता स्वयं विद्या-व्यसनी थे इसलिए इन्होंने अपने पुत्र को योग्य बनाने के लिए किसी प्रकार की कमी न रखी। लाला जी ने ५-६ वर्ष की अवस्था से ही विद्या पढ़नी प्रारम्भ की। अपनी श्रेणी में हर समय प्रथम आना इनका बाँया हाथ का खेल था। लाला जी की माता भी बड़ी विदुषी थी। उसने भी बालक को इतना चतुर बना दिया कि सुदूर भविष्य में वह बालक ख्यातनामा भारतवर्ष का महान् नेता बन गया।

सन् १८८० में लाला लाजपतराय ने पञ्जाब और कलकत्ता की एक साथ मैट्रिक परीक्षा पास की। इसके बाद इनको छात्रवृत्ति मिलने लगी और ये लाहौर गवर्नमेंट कालिज में प्रविष्ट हो गये। एफ० ए० की परीक्षा के साथ ही इन्होंने मुख्तारी की परीक्षा भी दी। दो वर्ष तक कालेज में पढ़ने के बाद १८ वर्ष की अवस्था से ये अपने गांव जगरांव में जाकर मुख्तारी करने लगे। साथ ही इन्होंने वकालात की परीक्षा भी दे दी, परन्तु परिश्रम अधिक न हो सकने के कारण उत्तीर्ण न हो सके। दूसरे वर्ष फिर उन्होंने वकालात की परीक्षा दी। अब की बार वे पास हो गये। ३० छात्रों में से आपका दूसरा नम्बर रहा। वकालत की परीक्षा में पास होने के बाद लाला जी ने सन् १८८६ से जिला हिसार में वकालत का कार्य प्रारम्भ कर दिया। अपने कार्य में लाला जी ने आशातीत सफलता प्राप्त की। वे एक योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, अतः थोड़े ही समय में गण्यमान्य व्यक्तियों में गिने जाने लगे।

अन्य वकीलों की अपेक्षा लाला जी का सार्वजनिक जीवन था, क्योंकि वे झूठे मुकदमों को कदापि नहीं लेते थे और ग़रीबों की पैरवी बिना शुल्क के ही करते थे। न्याय का पक्ष लेना इनका स्वाभाविक गुण था। स्वभाव से सरल, व्यक्तित्व में ऊँचे विचारों में पवित्रता और अनथक परिश्रम आदि असाधारण गुण बाल्यकाल से ही लाला जी में पाये जाते थे। लालाजी आयु में दूसरों से छोटा होने पर भी अनुभव में सर्वोपरि थे। आपके चरित्र पर प्रभाव डालने का श्रेय सर सैयद अहमद को है। सर सैयद अहमद एक उर्दू का अखबार निकालते थे, जिसका नाम 'तहज़ीब-उल इखलाक' था। इसमें देश के प्रति ऊँचे भावों से भरे सुन्दर लेख प्रकाशित हुआ करते थे। लाला लाजपतराय बचपन से ही इस अखबार को मँगाते तथा पढ़ते थे। राष्ट्र के प्रति सर सैयद के भी ऊँचे विचार थे। एक बार उन्होंने अपने पत्र में लिखा था कि—हिन्दू और मुसलमान मेरी दोनों आँखें हैं, क्या ही अच्छा होता कि मेरी एक ही आँख होती और एक ही आँख से दोनों को देखता।

विचार बड़े उच्च हैं किन्तु भावना से कर्तव्य ऊँचा होता है। सर सैयद के विचारों से लाला लाजपतराय का महान् उपकार हुआ। अपने चरित्र-निर्माण में लाला जी ने अपनी पूज्य माता का भी उल्लेख किया है। उनका कथन है कि—मैं अपनी माता जी का बहुत ही ऋणी हूँ। उन्होंने ही मुझे उदारता, दीन तथा अनाथों की सेवा करना और दान देने की शिक्षा दी। स्वयं भी माता जी दान और अतिथि-सेवा में लगी रहती थीं। वे कभी भी दूसरे की निन्दा नहीं करती थीं। मेरे व्यक्तिगत चरित्र पर माता जी का अधिक प्रभाव है। उन्होंने मेरे हृदय में धार्मिक-विचार, देश-सेवा और भारतीय संस्कृति के भाव बचपन में ही भर दिये थे।

वास्तव में विदुषी माता अपने पुत्र को जितना अच्छा सुशील, सदाचारी और धार्मिक बना सकती है उतना कुशल अध्यापक नहीं। शिवाजी हिन्दु जाति के परित्राता वीर, यशस्वी हुए। इसका एक मात्र कारण उनकी माता की शिक्षा का प्रभाव ही था। शिवाजी को उनकी ,माता ने बचपन में ही रामायण और महाभारत के वीरों का चरित्र पढ़ा दिया था। इस प्रकार के सैकड़ों दृष्टान्त भारतीय इतिहास में मिलेंगे। सर सैयद और विदुषी माता के अतिरिक्त लाला जी के जीवन पर जिनका सब से अधिक प्रभाव पड़ा वे महर्षि दयानन्द सरस्वती थे। हम पहिले ही इस बात की संक्षेप से चर्चा कर चुके हैं कि लाला जी के पिता राधाकृष्ण जी आर्यसमाजी थे अतः पिता का प्रभाव भी पुत्र पर पड़ा था, किन्तु जिन दिनों लाला जी लाहौर में पढ़ते थे सारे पंजाब में स्वामी दयानन्द के व्याख्यानों की धूम मची हुई थी। स्वामी जी स्थान २ पर व्याख्यान देते धर्म के पाखण्डियों को शास्त्रार्थ द्वारा परास्त करते और जगह-जगह आर्य समाज की स्थापना करते। लाहौर में स्वामी जी ने १८७७ में आर्य समाज की स्थापना कर दी थी। इस महर्षि के प्रभावशाली व्याख्यानों से लाला लाजपतराय बहुत ही प्रभावित हुए। इनको समाज की सेवा करने का यह एक बना बनाया मार्ग मिल गया था। फलतः लाला जी ने पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए० और लाला हंसराज जी के साथ आर्यसमाज में सम्मिलित हो देश की सेवा करने का बीड़ा उठाया। उस समय आर्यसमाज का वृक्ष बाल्यावस्था में ही था। उसको अंकुरित तथा पल्लवित करने का श्रेय इन्हीं तीन कर्मवीरों को है। ये तीनों मिल कर आर्यसमाज के प्रचार में बड़ी तत्परता से सहयोग देते थे। लाला जी ने अपनी

वकालत का कार्य लाहौर में प्रारम्भ कर दिया। कचहरी से अवशिष्ट समय में लाला जी समाज की सेवा करते। पहिले तो आर्यसमाज एक संस्था के ही रूप में था, किन्तु आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द का १८८३ में देहान्त हो जाने पर उनकी स्मृति में १८८६ में डी. ए. वी. कालेज की स्थापना इन तीनों मित्रों ने की। यह कालेज आज भी पंजाब के सारे कालिजों में प्रथम स्थान रखता है। लाला जी सदैव से शिक्षा-प्रेमी रहे हैं। उन्होंने डी. ए. वी. कालेज की स्थापना ही नहीं की बल्कि बारह वर्ष तक अवैतनिक मंत्री रह कर कालेज को उन्नति के शिखर पर पहुँचाया। साधारण सी संस्था को चलाने के लिए भी धन की आवश्यकता होती है फिर कालेज के संचालन के फिए कितनी धन-राशि चाहिए, पाठक इसका अनुमान स्वयं कर सकते हैं। लाला जी ने अपने दोनों मित्रों पं० गुरुदत्त और लाला हंसराज को धन एकत्र करने को कहा, स्वयं भी गांव २ तथा शहर २ में जाकर कालेज के लिए चन्दा इकट्ठा किया। इन दिनों लाला जी ने वकालत का कार्य स्थगित कर दिया और प्रसन्नता-पूर्वक कालेज का कार्य संभाला। कालेज के अतिरिक्त अनेकों संस्थाओं को इन्होंने सहयोग दिया। परन्तु अधिक परिश्रम के कारण लाला जी का स्वास्थ्य बिगड़ गया और वे बीमार पड़ गये। उन्हें लाहौर छोड़ कर हिसार जाना पड़ा। इन दिनों लाला जी के साथी पं० गुरुदत्त का भी देहान्त हो गया और फिर लाला जी १८६२ के बाद स्थायी रूप से लाहौर में ही आ गये। चीफकोर्ट में वकालत प्रारम्भ कर दी। वे वकालत से जितना धन कमाते उससे वे सुख-पूर्वक से रह सकते थे किन्तु उन्होंने विलासिता को त्याग कर अधिक

से अधिक धन दीन अनाथों की सेवा में लगाया। फिरोजपुर में एक अनाथालय खोला, अन्य स्थानों में जनता को प्रेरित कर कई संस्थाएँ खुलवाईं। किसी संस्था में जब अधिक सदस्य काम करने लग जाते हैं तो जहाँ एक ओर उन्नति की सीढ़ी समीप होती जाती है वहाँ कभी २ वैमनस्य के कारण अवनति का मुख भी देखना पड़ता है। लाहौर के आर्यसमाज में भी कुछ कार्य-कर्ताओं की फूट के कारण उसके दो दल बन गये। लाला जी ने दलबंदी तोड़ने के लिये भरसक प्रयास किया पर कोई सफलता न मिली।

एक पक्ष लाला मूलराज एम. ए. के नेतृत्व में घास पार्टी के नाम से प्रसिद्ध हुआ और दूसरा डी. ए. वी. कालेज का दल बना जो मांस खाने के विपक्ष में था। लाला जी ने दलबन्दी अच्छी न समझी इस लिये उन्होंने आर्यसमाज से त्यागपत्र दे दिया, किन्तु मित्रों के अनुरोध करने पर फिर कालेज पार्टी में सम्मिलित हो गये। विपक्षियों को नीचा दिखाने तथा स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये लाला जी ने एक समाचार पत्र भी निकाला। इससे समाज में बड़ा सुधार हुआ। यदि लाला लाजपतराय और लाला हंसराज जी न होते तो डी. ए. वी कालेज इतनी उन्नति कदापि न कर सकता। इस तरह इन दोनों महा पुरुषों को कालेज का प्राण भी कहें तो अत्युक्ति न होगी। लाला हंसराज जी अवैतनिक रूप में कालेज के प्रिंसिपल का कार्य करते थे तो लाला लाजपतराय मंत्री तथा प्रबन्ध समिति में निस्वार्थ भाव से सेवा करते। सबसे बड़ा प्रसन्नता की बात तो यह है कि डी. ए. वी. कालेज के लिये सरकारी सहायता नहीं ली गई, क्योंकि लाला जी की यह राय थी कि सरकारी सहायता लेने से कालेज का प्रबन्ध स्वतंत्र रूप से नहीं चल सकेगा।

सन् १८९६—९७ में उत्तरी भारत में भयंकर अकाल पड़ा जिसके कारण सैकड़ों मनुष्य दाने-दाने के लिये तरसने लगे। असंख्य हिन्दु-बालक अनाथ हो गये। लाला जी ने यह समाज-सेवा का स्वर्ण अवसर हाथ से न जाने दिया और सैकड़ों अनाथ बच्चों को अनाथालयों में भेजने का प्रबन्ध किया। समस्त हिन्दु जाति से धन की अपील की, आर्यसमाज की ओर से अकाल पीड़ितों की स्थान २ पर सहायता की गई भारत में विदेशी साम्राज्य आने से यह समस्या समय समय उपस्थित हो जाती है कि दीनों, अनाथों, भूखों और निराश्रितों को ईसाई प्रचारक लालच देकर अपने धर्म में दीक्षित कर लेते हैं। इस प्रकार १८९८—९९ के अकाल में ईसाइयों ने हजारों हिन्दू अनाथ बच्चों को ईसाई बना लिया। लाला जी ने जहाँ अकाल पीड़ितों को अन्न देकर सहायता की वहाँ ईसाई मिश्नरियों से झगड़ा कर हिन्दू बालकों को ईसाई होने से भी बचाया। अनाथ बालकों को अधिकतर पञ्जाब के अनाथालयों में रखा गया। इस तरह अकाल पीड़ितों की सहायता और अनाथों की रक्षा के इस प्रयत्न में लाला जी की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। इनकी प्रेरणा से आर्य समाज के कार्य-कर्ता बड़ी तत्परता से कार्य करते रहे। लाला जी ने स्वयं चारों ओर भ्रमण करके ओजस्वी व्याख्यानों द्वारा तन, मन, धन से सहायता करने के लिये जनता को प्रोत्साहित किया।

इतना तो निश्चित ही है कि यदि उस समय लाला जी न होते तो हिन्दु जाति की महान क्षति होति। यद्यपि पहिले तो सरकार लाला जी से चिढ़ती थी क्योंकि इन्होंने ईसाई प्रचारकों के विरुद्ध आवाज उठाई थी, परन्तु १९०१में जब सरकार की ओर

से एक कमेटी बैठी कि अकाल पीड़ितों के साथ कैसा व्यवहार किया जाय तो सर्व-प्रथम लाला जी की राय ली गई। इस कार्य से लाला जी के प्रति सर्व-साधारण जनता में कृतज्ञता के भाव भर गये, चारों ओर से जनता ने उनका अभूतपूर्व स्वागत किया।

सन् १९०५ में पंजाब में बड़ा भयंकर भूकम्प आया। कांगड़ा के प्रान्त में असंख्य धन जन की क्षति हुई। इस समय भी लाला जी ने लाहौर आर्य समाज की ओर से लोगों की पर्याप्त सहायता की। स्वयंसेवकों को भेजकर भूकम्प से नीचे दबे आदमियों को निकाला, दीन अनाथों को शरण दी। इसी भाँति १९०८—९ में उड़ीसा और युक्त प्रान्त में अकाल का प्रकोप प्रबल रूप धारण कर रहा था कि लाला जी ने तब भी पर्याप्त सहायता की और भूखों को जीवन-दान दिया। अब लाला जी का कार्य-क्षेत्र केवल पञ्जाब ही नहीं रहा। बल्कि सारा भारतवर्ष हो गया। भारत वर्ष की स्वतन्त्रता के लिए ५०–६० वर्ष से कांग्रेस बड़ा भारी सेवा कर रही है। कांग्रेस का १९०४ में एक विशाल सम्मेलन बम्बई में हुआ उसमें कुछ प्रस्ताव रक्खे गये जिनको लन्दन में बृटिश पार्लियामेन्ट के सामने उपस्थित करना था। कौन इंगलैण्ड जाय इस प्रश्न के उठने के बाद श्रीयुत गोखले और लाला लाजपत राय का नाम चुना गया। कर्मवीर लाला जी श्रीयुत गोखले के साथ इंगलैण्ड गये और वहाँ की जनता के सामने भारतीयों की माँगे रखी गईं। लगातार सभाएँ कर वहां एक सोसाइटी स्थापित की और इसी अनथक परिश्रम से इंगलिस्तान की जनता ने भारत के प्रति सहानुभूति प्रकट की।

योरुप से वे अमरीका भी गये, वहां भी कुछ समय तक भ्रमण कर भारतवर्ष को लौट आये। लाला जी अभी भारत में

आये ही थे कि लार्ड कर्जन ने बंगाल प्रान्त के दो टुकड़े कर दिये। जनता में बड़ा असन्तोष फैला हुआ था। बंग-विच्छेद के विरोध में सारा देश स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार पर ज़ोर दे रहा था। लाला जी ने भी श्री गोखले के साथ भारत के प्रमुख नगरों में भ्रमण कर और व्याख्यान देकर जनता को उत्तेजित किया। पूर्व में बंगाल के टुकड़े और पंजाब में सरकार ने नहरों का कर बढ़ा कर अशान्ति की लहर फैलाई। सरकार ने जनता की इच्छा के विरुद्ध दमन की नीति अपनाई। प्रसिद्ध नेता जेलों में ठूंस दिये। सरकार के हिमायती कुछ समाचारपत्रों ने लाला जी के विरुद्ध भी आवाज़ उठाई और सारे देश की अशान्ति का मूल कारण लाला जी को ठहराया।

एक दिन लाला जी जब कचहरी को जा रहे थे तो रास्ते में दो पुलिस इन्सपेक्टर उनकी मोटर में चढ़ आये। उन लोगों ने लाला जी को डिप्टी कमिश्नर का देश-निकाले का वारण्ट दिखला दिया। लाला जी बन्दी बना दिये गये। गोरे अफ़सरों के साथ मियांमीर छावनी और वहां से स्पेशल गाड़ी में बिठा कर डाइमंड हारबर भेज दिये गये। वहां से जहाज़ द्वारा रंगून और वहां से मांडले भेज दिये गये। वहां लाला जी पर कड़ी देख-रेख रखी गई, उनसे कोई मिलने नहीं पाता था। एक बार लाला जी के छोटे भाई धनपतराय उनसे मिलने के लिये, बहुत सा धन व्यय करके मांडले पहुँचे पर उन्हें भी लाला जी से मिलने नहीं दिया गया। कहा जाता है कि बन्दी होने के समय लाला जी ने अपने घर वालों को सूचना देनी चाही पर उन को बाध्य किया गया कि वे एक पत्र लिख दें। वह पत्र आपके

घर भिजवा दिया जायगा। यही हुआ जब लाला जी को स्पेशल गाड़ी में बिठला कर लाहौर से बाहर भेज दिया तब उनके घर समाचार भेजा गया। उधर निम्न कोटि के बन्दियों की भांति लाला जी को जेल में उचित सुविधाओं से भी वंचित रखा गया।

भोजन बनाने के लिये उन्हें एक मद्रासी रसोइया दिया गया जो कि इनके अनुकूल भोजन नहीं बना सकता था। कोई अख़बार भी पढ़ने के लिये नहीं दिया जाता था। बाहर से आने जाने वाली चिट्ठियां फाड़ ली जातीं। यदि कोई विशेष बात न होती तो उन्हें दे दी जातीं अन्यथा ज़ब्त कर ली जातीं। इधर लाला जी के निर्वासन का समाचार सरकार की ओर से गुप्त रखने पर भी बिजली की भांति सारे देश में फैल गया। समाचार-पत्रों ने सरकार की कड़ी आलोचना करनी प्रारम्भ कर दी। देश के सारे नेता जोश में आ गये। कौंसिल आफ़ स्टेट में बड़ी मर्मस्पर्शिनी विवेचना हुई। लाला जी ने भारत मन्त्री से पत्र-व्यवहार किया, किन्तु कोई सुनाई न हुई। आखिर झूठी बात कब तक छिपी रह सकती है, सरकार को झुकना पड़ा। लाला जी निर्दोषी सिद्ध हुए और ११ नवम्बर १९०६ को लाला जी कारागार से मुक्त कर दिये गये, परन्तु स्पेशल गाड़ी द्वारा जब तक उनको लाहौर नहीं लाया गया तब तक यह समाचार गुप्त रखा गया। मियांमीर छावनी लाहौर के जेल में लाने के बाद मुक्त होने की आज्ञा सुनाई गई।

जनता की दृष्टि जेल की चारदिवारी पर लगी हुई थी, किसी को पता न था कि लालाजी इतनी जल्दी छोड़ दिये जायेंगे। मियांमीर से मुक्त होकर जब लाला जी लाहौर शहर में अभी आ

ही रहे थे कि शहर वालों ने आपका अभूतपूर्व स्वागत किया। चारों ओर से बधाई की ध्वनि सुनाई देने लगी। सारे भारत में प्रसन्नता छा गई, शोक के बादल फट गए। कुछ दिन घर पर आराम करने के बाद आपने सारे देश में भ्रमण किया। सरकार की ओर से लाला जी पर जो आक्षेप किये गये थे उनका उन्होंने मुँहतोड़ उत्तर दिया। जिन जिन समाचार-पत्रों ने उनके प्रति ज़हर उगला था लाला जी ने उन पर मानहानि का मुकद्दमा चला दिया।

इन दिनों कांग्रेस के नरम और गरम दल नाम के दो दल बन चुके थे। गरम दल के नेता लोकमान्य तिलक थे और नरम दल के नेता श्रीयुत गोखले। लाला जी ने बहुत प्रयत्न किया कि दोनों दलों में समझौता हो जाय। सूरत में जब कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो उस समय लाला जी ने व्यक्तिगत रूप से दोनों दलों में भाग लिया, परन्तु कांग्रेस में फूट रहने के कारण वे उससे उदासीन ही रहे। लाला जी की व्यक्तिगत इच्छा गरम दल की पक्षपातिनी थी। जैसे कि उनके भाषणों से पता चलता है—उन्होंने एक सार्वजनिक सभा में यों कहा कि—

"सच पूछिये तो मैं नहीं समझता कि ये शब्द जिन दलों के लिये व्यवहृत होते हैं, वे उनके सिद्धान्तों के वास्तविक द्योतक हैं या नहीं। पर यदि वे शब्द हमारे लिए ही व्यवहृत होते हों तो मैं अपने नरम दल वाले भाइयों से प्रार्थना करता हूं कि वे विरोधियों के हाथ की कठपुतली न बनें, सम्भव है कि गरम दल वालों के कार्य के कुछ ढंग उन्हें पसन्द न हों, पर एक दल को इसीलिये उन्हें दूसरों के हाथ सौंपना और उनकी निन्दा करना अथवा उन्हें गवर्नमेंट का कोप-भाजन बनाना

वेदना प्रकट की। जिसका सार निम्न है कि—भारत की जनता इस समय अकाल से पीड़ित है मैं चाहता हूं कि भारत में आकर अपने भाईयों की सेवा करूँ, जैसे कि पहले से करता आया हूँ परन्तु भारत मन्त्री आज्ञा नहीं देता।

लाला जी का हृदय कितना विशाल तथा सहानुभूति पूर्ण था, उनके कितने उच्च विचार थे और भारतीय जनता के प्रति कितना प्रेम था। इस बात का पता उनके कार्यों से तथा लेखों से चलता है। हिन्दू और हिन्दुस्तान के लिए लाला जी में पक्की लगन थी। इसके लिये वे बड़ी तत्परता से कार्य करते तथा देश हितकारी संस्थाओं का सुदृढ़ बनाने में यत्नशील रहते थे। मिस मेयो ने, भारत-वासियों को झूठा, पातकी और असभ्य सिद्ध करने के लिए 'मदर इण्डिया' नामक महागन्दी पुस्तक निकाली। लाला जी ने उसका जवाब 'अनहेपी इण्डिया' लिख कर दिया। पुस्तक में अकाट्य प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया कि पराधीन देश को और भी पराधीन बनाने के लिये कैसी चाल चली जा रही है। पुस्तक ने सारी दुनिया में खलबली मचा दी यूरोप वालों की पोल खुल गई—जानकार अंगरेज़ों का कहना है कि मिस मियो ने 'मदर इण्डिया' लिखकर भारत वासियों को यूरोप के प्रति कटाक्ष करने का मौका दिया। लाला जी ५ साल तक अमरीका रह कर २० फरवरी १९२० को भारत लौट आये। परदेश में रहकर इनको कई एक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। जिस कर्मवीर को देश-निर्वासन का दण्ड मिला हो और बृटिश साम्राज्य जिसके प्राणों तक का घातक हो। वह सुख से कैसे रह सकता है—किन्तु लाला जी निर्भीक तेजस्वी और कर्मवीर पुरुष थे। ये बड़े से बड़े कष्टों के आने

पर भी प्रसन्न-मुख रहते। उनका एक मात्र कथन यह होता था कि मनुष्य वही है जो विपत्तियों से निरन्तर संघर्ष करता रहे।

लालाजी—भारतवर्ष में अभी आये ही थे कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय नेताओं ने आन्दोलन फिर से आरम्भ कर दिया। आन्दोलन का मुख्य कारण यह था कि चेम्सफोर्ड और मांटेगू घोषणा के अनन्तर पंजाब में हत्याकांड मार्शला आदि से भारतीय जनता क्षुब्ध हो उठी थी। अत्याचारी गोरे अफसरों के अत्याचारों की छान-बीन करने के लिए एक जांच कमेटी नियुक्त की गई। जिसने उनको शत प्रतिशत दोषी ठहराया, किन्तु सरकार ने उनके विरुद्ध कोई पग नहीं उठाया। इसलिए असहयोग आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। लाला जी ने भी पूर्ण सहयोग दिया। इस में महात्मा जी के असह-योग का कार्य क्रम यह था कि लोग सरकार को किसी तरह का सहयोग न दें। सब लोग सरकारी नौकरी छोड़ दें। अदालतों का वहिष्कार किया जाय, वकील वकालत छोड़ दें। विदेशी वस्तुओं का सर्वथा वहिष्कार किया जाय इस आन्दोलन की आंधी सारे भारत में फैल गई। लालाजी ने देश का साथ देते हुए पंजाब में असहयोग की आग लगा दी। प्रान्तीय सरकार ने आन्दोलन का प्रमुख नेता उनको समझ कर ३ सितम्बर १६२२ को उन्हें गिरफ्तार कर लिया और डेढ़ वर्ष की कड़ी सज़ा दी गई। आततायी सरकार ने जेल में भी इनको अनेकों कष्ट दिये। फल-स्वरूप इनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा, परन्तु जब उनकी रुग्ण अवस्था अधिक हानिप्रद सिद्ध हुई तो १६ अगस्त १६२३ को लाचार होकर सरकार ने इन्हें छोड़ दिया। बाद में लाला जी को अच्छी चिकित्सा द्वारा आराम

आ गया और वे फिर पूर्ववत् अपना कार्य-क्रम में तत्पर हो गये आन्दोलन जारी रहा, पर उसमें आशातीत सफलता नहीं मिली हिन्दु जाति की संख्या कम करने के लिए अछूतों को भड़काया जाने लगा। सैकड़ों अछूतों को मुसलमान तथा इसाई बनाना सांप्रदायिक संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य बन गया। लाला जी ने पं० मदनमोहन मालवीय और श्रद्धानन्द के साथ इसाई और मुसलमान बने हिन्दुओं की शुद्धि की। हिन्दू लोग अस्पृश्य जाति के साथ जो अनुचित व्यवहार करते आ रहे थे। उसको दूर करने के लिये भी लाला जी ने आर्यसमाज की ओर से अछूतोद्धार का आन्दोलन जारी किया। धीरे-धीरे असहयोग आन्दोलन शिथिल होता गया। पर लाला जी की वाक्-पटुता तथा कर्मण्यता को देख कर स्वराज दल की ओर से उन्हें असेम्बली में भेजा गया। वहाँ जाकर लाला जी ने प्रतिपक्षियों से संघर्ष कर देश के हितों की रक्षा की। इनके युक्ति-पूर्ण वक्तव्यों से सरकारी पक्ष-पोषक थर्रा जाता था।

सन् १९१९ के शासन-सुधार की घोषणा से भारतीय जनता को पूर्ण सन्तोष तो न हुआ, किन्तु उसमें कुछ आशा की किरण भी उनको दिखाई दी। वृटिश सरकार कूटनीतियों से अपने साम्राज्य को दृढ़ बनाने में भरसक प्रयत्न करती चली आई है। इस लिए १९१९ में उसने भारत को भी अश्वासन दिया कि १०वर्ष बाद भारतीयों को पूर्णरूप से शासन अधिकार दे दिये जायेंगे किन्तु भारतीय जनता शासन करने के योग्य है या नहीं इस बात के निर्णय के बाद ही योजना कार्य रूप से परिणत हो सकेंगी यह नियम भी साथ ही घोषित कर दिया था। सन् १९२८ में पार्लियामेन्ट ने एक साइमन कमीशन" जांच करने के लिए

भारत भेजा। ३० अक्टूबर को जब 'साइमन कमीशन' लाहौर आया तो जनता ने कमीशन का विरोध करने के लिए काली झंडियों द्वारा उनका स्वागत करने के लिए एक विराट जलूस निकाला। सरकार ने जलूस को रोकने के लिए १४४ धारा लगा दी, किन्तु जनता ने उसकी कुछ भी परवाह न की। दिन के दो बजे स्टेशन पर जब जलूस पहुँचा तो पुलिस ने बड़ी निर्दयता से काम लिया। जनता अभी शान्त थी, उसके पास कोई हथियार न थे। किन्तु अत्याचारी पुलिस अधिकारियों ने जनता को पीटना प्रारम्भ कर दिया। लाला जी सबसे आगे थे इसलिये उन्हीं पर सबसे पहिले पुलिस की लाठियां बरसीं। इनकी छाती पर गहरी चोट लगी, किन्तु कर्मवीर लाला जी अपने स्थान से इंच भर भी पीछे नहीं हटे। इसके अतिरिक्त रायजादा हंसराज डाक्टर सत्यपाल डाक्टर आलम, डाक्टर गोपीचन्द आदि नेताओं पर भी लाठियों से चोटें आईं। लाला जी के छाती का चमड़ा छिल गया और उसी दिन से उनको ज्वर ने घेर लिया। शाम को एक विराट सभा लाला जी के सभापतित्व में हुई। पुलिस के अत्याचारों की लाला जी ने घोर निन्दा तथा कड़ी आलोचना की। बृटिश सरकार के प्रति लाला जी ने घृणा प्रकट की आखिर में सभा समाप्ति के बाद सब लोग शोकाकुल अपने-अपने घरों को लौट गये लाला जी घर पर जाते ही बीमार हो गये। उसी चोट के कारण उनका स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन बिगड़ता गया। आखिर १७ नवम्बर १९२८ को सवेरे ७ बजे हृदय की गति रुक जाने से लाला जी ने इस असार संसार को त्याग दिया।

लाला जी की मृत्यु का समाचार सारे देश में बड़े शोक के साथ सुना गया। लाहौर शहर में तो शोक की घनघोर घटा

छा गई। सारे स्कूल कालेज, दफ्तर बाज़ारों ने उनके शोक में अपना सारा कार्यक्रम बन्द कर दिया। शोक-सभाएँ की गईं। लाला जी ६३-६४ वर्ष की अवस्था में स्वर्ग सिधारे, परन्तु लाला जी एक नवयुवक के समान सदा कार्य में तत्पर रहे। वे उन पुरुषों में से थे जो कर्तव्य-पथ में बाधाओं को शुभ और सफलता का कारण समझते हैं। यदि वह चाहते तो वकालत से लाखों रुपया कमा सकते और बड़े आराम से अपनी जिन्दगी बिताते पर उनमें त्याग की एक विलक्षण शक्ति विद्यमान थी। देश के कार्य के लिये उन्होंने सब कुछ न्योछावर कर दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लाला जी भारत माता के सच्चे पुजारी थे। दीन दुखियों के प्रति लाला जी के हृदय में अकथनीय दया थी। दुखियों को देखकर उनका हृदय इतना उमड़ आता था कि वे अपना सर्वस्व समपर्ण करने में भी नहीं हिचकते थे। हिन्दू और हिन्दुस्तान के लिए लाला जी में पक्की लगन थी। वे बड़े ही मिलनसार थे। उनकी वाणी में ऐसा जादू भरा था कि जो एक बार उन से मिल लेता वह अवश्य प्रभावित होता। अभिमान करना तो लाला जी जानते ही न थे। वे सदा साधारण वेष-भूषा में रहते थे। विदेशों में भी अपनी संस्कृति तथा सभ्यता को अक्षुण्य बनाये रखना लाला जी का ही काम था। भारतीय इतिहास में लाला जी का नाम सुनहरे अक्षरों से अंकित है। ऐसे धर्मवीर को पाकर ही भारत गौरवान्वित हुआ है।

साइमन कमीशन को रोकने के लिए यद्यपि लाला जी कुछ भी नहीं करना चाहते थे, किन्तु भारतीय जनता की ओर से प्रतिनिधि रूप वे इतना अवश्य प्रकट करना चाहते थे कि इस कमीशन से हमें कुछ भी लाभ नहीं। हम बृटिश सरकार से प्रार्थना करते

हैं कि वह हमारे अधिकारों को शीघ्र दे दें। फिर क्या था बहुत से लाहौर निवासी स्टेशन पर पहुँच गये। किसी प्रकार का विद्रोह करना जनता का उद्देश्य न था। लाला जी ने उस समय का वर्णन स्वयं अपने मुखकमल से इन शब्दों में वर्णन किया है—

"जलूस बिल्कुल निहत्था था, हमारा इरादा झगड़ा करने का नहीं था। मैं कहता हूँ कि हम इन लाठियों को खाने के लिये तैयार हैं और जब तक यहाँ अंगरेजी हकूमत है तब तक हम उनके खाने के मुस्तहक हैं। लेकिन यह एक एक लाठी की चोट गवर्नमेंट के शवाधार (तख्ता)के लिए एक एक कील, कफन का एक एक तागा साबित होगी। अगर देश में कोई हिंसात्मक क्रान्ति होगी तो उसकी ज़िम्मेदारी पुलिस और उसके अफसरों पर होगी। अगर गवर्नमेंट और उसके अफसर इसी प्रकार का अत्याचार करते रहेंगे जैसा कि उन्होंने आज तक किया है, तो भारत के जोशीले नौजवान उत्तेजित और अधीर हो उठेंगे। उस समय मेरे मालवीय जी के या महात्मा जी के लिये भी उन्हें अहिंसा की मर्यादा के अन्दर रखना असम्भव हो जायगा।

लाला जी के इन शब्दों से स्पष्ट है कि जनता के शान्त दान्त रहने पर भी सरकारी अफसरों को कितनी अदूर-दर्शिता थी। वे दमन से देश में शान्ति स्थापित करना चाहते थे। किन्तु दमन-नीति का अवलम्बन न लेने से प्रजा की शान्ति में क्रांति की लहर दौड़ पड़ती है। वृटिश गवर्नमेंट ने सदा दमन की नीति का सहारा लिया। उसी का ही यह परिणाम है कि भारत-वर्ष आज जागृति की दृष्टि से कोसों दूर आगे बढ़ चुका है। अपनी छाती पर डंडे की गहरी चोटें खाकर भी उन्होंने जिस सहनशीलता और वीरता का परिचय दिया है, उससे लाला

जी का यश गौरव के शिखर पर प्रतिष्ठित हुआ। साथ ही नौकर शाही के कुकृत्यों एवं अत्याचारों का एक नमूना सदा के लिये उदाहरण बन गया।

यह चोट केवल लाला जी के वक्षःस्थल पर ही नहीं लगाई गई थी, अपितु देश से प्रेम रखने वाले तथा लाला जी के पद-चिन्हों पर चलने वाले नवयुवकों के हृदय पर पहुँचाई गई। कर्मवीर लाला लाजपतराय ने अपने अद्भुत् साहस और त्याग का परिचय देते हुए हमको यह बतला दिया है, कि यदि तुमने स्वतन्त्रता का संग्राम लड़ना है और आततायी बृटिश गवर्नमेंट से संघर्ष करना है तो अपने जीवन को हथेली पर रखकर आगे कदम बढाते चलो। पाश्चात्य शासकों के पाशविक बल का शारीरिक बल से नहीं अपितु आत्मिक बल से दमन करो।

जब कभी राजनैतिक क्रान्तियां हुईं उन सब में लाला जी का अपने जीवन काल में प्रमुख हाथ रहा। असहयोग आंदोलन में जब ये जेल में थे और देश के लिये स्वयं कुछ नहीं कर सकते थे तो उस समय लाला जी द्वारा स्थापित दो संस्थाएँ, (तिलक राजनीति विद्यालय, और लोक-सेवक संघ) अपना काम पूर्णरूप से करती रहीं। लाला जी इस बात को पहिले से ही जानते थे कि नेताओं के गिरफ्तार हो जाने के बाद समाज में जागृति पैदा करने वाला कोई न रहेगा। इसलिये यदि संस्थाएं स्थापित की जायेंगी तो वे अपना कार्य करती रहेंगी। दानवीर लाला जी ने "तिलक राजनीति विद्यालय" के लिये ४० हज़ार रुपये का अपना पुस्तकालय और डेढ लाख रुपये का अपना भवन दान में दे दिया था। इस विद्यालय में स्वतन्त्र राष्ट्रीय शिक्षा पढ़ाई जाने का आयोजन भी किया गया। लोक सेवा संघ का काम था कि वह राष्ट्रीय कार्यकर्ता तयार

करे। इसका यह मुख्य उद्देश्य था कि भेद-भाव रहित समस्त भारतीय जनता की सेवा करना। आज भी यह लोक-सेवक-संघ बड़ी सफलता से अपना कार्य करता हुआ लाला जी की कीर्ति को देदीप्यमान कर रहा है।

लाला जी यद्यपि ६३—६४ वर्ष की आयु में परलोक सिधारे परन्तु उनके उत्साह और कर्मण्यता की बराबरी २०-२१ वर्ष का नवयुवक भी नहीं कर सकता था। प्रायः सभी मनुष्य किये जाने वाले कर्मों में विघ्नबाधाओं को अपशकुन समझते हैं किन्तु लाला जी उन मनुष्यों में से थे जो कर्तव्य-पथ में बाधाओं को शुभ शकुन और कार्य सफलता का कारण समझते थे। उनमें त्याग की एक विलक्षण शक्ति थी। अन्य धनिकों की भांति भोग-विलास में जीवन व्यतीत करना लाला जी के प्रकृति के विरुद्ध था। वे पर-दुःख से दुःखी और पर-सुख से सुखी रहने वाले व्यक्ति थे। उनके हृदय में अपने दुखिया देश के लिये अपार करुणा-भरी पीड़ थी। राष्ट्रवादी होते हुए भी हिन्दुओं के साथ होने वाले अत्याचारों को वे सहन न कर सकते थे। यदि कोई दुखिया अपनी सच्ची करुणा-कहानी सुनाता तो लाला जी का हृदय उमड़ पड़ता और वे उसे अपना सर्वस्व तक देने के लिये तैयार हो जाते थे। महात्मा गांधी की तरह वे अछूतों को अपना अंग समझते थे। उनका हमेशा यह प्रयत्न रहता था कि अछूतों में सुधार हो, उनके प्रति वही व्यवहार किया जाय जैसा हम दूसरों से अपने प्रति चाहते हैं। हिन्दू जाति से अस्पृश्यता और वर्णव्यवस्था दूर करने के सम्बन्ध में लाला जी के विचार बड़े दृढ़ थे। उनको यह विश्वास हो चुका था कि जब तक हिन्दू जाति अपने एक भारी अंग अस्पृश्य जातियों के साथ ऊँच-नीच

का व्यवहार मिटा कर उन्हें भी अपने जीवन-संघर्ष में साथ-साथ ले चलने को उद्यत नहीं होती तब तक वह संसार की संगठित जातियों के सम्मुख अपना मुख उज्ज्वल नहीं कर सकती।

हिन्दू समाज को संगठित तथा शक्तिशाली बनाने के लिये लाला जी कभी साम्प्रदायिकता के प्रपञ्च में नहीं फँसे। हिन्दू महासभा ने कई बार अपनी सभा के पदाधिकारी बनने के लिये लाला जी को निमन्त्रित किया, परन्तु उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। क्योंकि वे समझते थे कि साम्प्रदायिकता का सहारा लेकर मेरी व्यापक राष्ट्रीयता नष्ट हो जायेगी। हाँ हृदय से वे हिन्दुत्व के पक्षपाती अवश्य थे। पञ्जाब के हत्याकांड के समय डायर और ओडवायर ने जनता के साथ जैसे अत्याचार किये थे, निहत्थों पर मशीन-गन चलाई थी, गोरे अफ़सरों द्वारा भारतीय महिलाओं के पर्दे उठाये गये, उनका सतीत्व नष्ट किया गया था। इन सब अमानुषिक अत्याचारों का लाला जी के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। यद्यपि नीति-निपुण बृटिश सरकार ने इस घटना की जाँच के लिये 'हंटर कमीशन' नियुक्त किया था, जिससे लोगों को आशा थी कि पक्षपात-रहित निर्णय होगा, किन्तु उसने भी गोरे अधिकारियों का ही समर्थन लिया। लाला जी ने सरकार की इस कूटनीति को देख कर अपने दैनिक उर्दू अखबार में शासन-सुधार में भारतीयों को भाग लेने की प्रेरणा की। उनका कथन था कि कौंसिलों में सरकारी कर्मचारियों के साथ जनता के प्रतिनिधि मिलकर ही कुछ काम कर सकते हैं, परन्तु जब उन लोगों की मनोवृत्ति भारतीय जनता को इस प्रकार अपमानित और अत्याचार से पीड़ित करने की है, वहां आपस में एक दूसरे का विश्वास नहीं हो सकता। इस

लिये कौंसिलों में जाकर शासन-सुधार में योग देना भारतियों के लिये निरर्थक और अपमान-जनक है। लालाजी की इस प्रेरणा में यह बात स्पष्ट है कि वे केवल कौंसिल के पद प्राप्त करने के भूखे न थे। उन्होंने स्वयं भी कौंसिल में जाना स्वीकार इसलिये किया था कि वहां जाकर भारतीय जनता की कुछ सेवा कर सकें। उनका छोटे से छोटा भी कोई ऐसा काम न था जो परोपकार के लिये न हो।

जिस समय लार्ड कर्ज़न ने अपनी अदूरदर्शिता का परिचय देते हुए बंगाल के दो टुकड़े कर दिये तो बंगाल निवासियों के साथ सारे भारत-वासियों में उत्तेजना की लहर दौड़ उठी थी, उन्हीं दिनों 'पञ्जाबी' नामक अखबार पर राजद्रोह का मुकद्दमा चला कर सरकार ने जले पर नमक छिड़कने का काम किया। इस मुकद्दमे की कोई विशेष मौलिकता भी न थी। साधारण सी बात थी—एक अंगरेज़ पुलिस सुपरिंटेंडेंट एक दिन शिकार खेलने जंगल गये, उन्होंने एक सूअर मारा। जब उन्होंने अपने मुसलमान खानसामा को मरा हुआ सूअर अपने बंगले पर पहुंचाने को कहा तो उसने इस्लाम धर्म में सूअर हराम माना जाने के कारण उसे छूने से इन्कार कर दिया। इस पर साहब ने खानसामा को गोली मार कर यमलोक पहुँचा दिया। इस समाचार को छापने के कारण 'पंजाबी' नामक अखबार दमन की चक्की में पीसा जाने लगा। 'पंजाबी' ने यह खबर इस लिये छापी थी कि इस घटना की जांच की जाय। योरुपियन हो या हिन्दुस्तानी हत्याकाण्ड करने वाले को सज़ा अवश्य मिलनी चाहिए थी, परन्तु बृटिश सरकार के अफ़सरों ने उल्टे इस पर जाति-गत द्रोह फैलाने का दोष लगा कर राजद्रोह का केवल

मुकद्दमा ही नहीं चलाया बल्कि मलिक लाला जसवन्तराय एम. ए. तथा सम्पादक काशीकृष्ण को छः छः महीने की सज़ा भी दे दी। 'पंजाबी' अखबार के ऊपर की गई कठोरता का लाला जी पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। अब उन्होंने यह अच्छी तरह से समझ लिया कि अंगरेज़ों की नीयत भारतवासियों के प्रति अच्छी नहीं है। सार्वजनिक कार्यों की या जनता की मांगों को उपेक्षित दृष्टि से देखना वृटिश सरकार की आदत सदा से चली आ रही नीति है। इस बात से लाला जी आगबगूला हो गये और सरकार की कूटनीति का आम जनता में बहिष्कार का प्रचार करने लगे। इस सम्बन्ध में जनता में उत्तेजना फैलाने का कार्य सरदार अजीतसिंह ने बड़े ज़ोर से किया। लाला जी नें स्थान-स्थान पर जनता द्वारा की गई सार्वजनिक सभाओं में यह बात स्पष्ट कह दी कि सरकार आन्दोलनों को शान्त करने के लिये जनता के अधिकारों को अमानुपिकता के साथ न कुचले। इससे सरकार की सदभावना के स्थान में अधिक कठोरता का परिचय मिला। फल-स्वरूप लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को देश-निकाला हो गया। किन्तु इन दोनों देश-भक्तों ने इस उग्र दण्ड को सहर्ष स्वीकार किया और सर्व-साधारण जनता के सामने अपना आदर्श उपस्थित कर दिया कि सच्चे वीर जो कार्य करते हैं उसे पूरा न करने तक कभी पीछे नहीं हटते। जिस समय इन्हें देश-निकाला हुआ उस समय उनकी निर्भयता देखने योग्ये थी। इस मनस्वीपुरुप से गवर्नमैंट को इतना भय था कि देश-निकाले के समय जब तक लाला जी लाहौर से बन्द और स्पेशल गाड़ी के द्वारा मांडले नहीं भेजे गये तब तक किसी को पता भी नहीं लगने दिया गया। यहां तक कि उनके पास कोई हिन्दुस्तानी नहीं

जाने दिया गया और आस-पास गोरे सिपाहियों का बन्दूकों का पहरा लगा रहा। लाला जी का व्यक्तित्व कितना ऊँचा था, भारतीय जनता पर उनका कितना प्रभाव था इसका वर्णन करना हमारी लेखनी से बाहर है। उनके देश से निकाले जाने पर एक पत्र ने उनके विषय में यों लिखा था—"देश का रोना लाला लाजपतराय के लिये नहीं है, उन्हें पराधीन पञ्जाब से माण्डले की जेल लाख दर्जे अच्छी है। वहाँ उनके पीछे जासूस नहीं दौड़ेंगे। न कोई मजिस्ट्रेट ही वहां के वृक्षों और पर्वतों को उन के व्याख्यान सुनने से रोकेगा। जीवन-व्यापी स्वार्थ त्याग के ऊपर यदि कोई भेंट चढ़ सकता तो यही जन्म भर की कमाई। कांगड़ा के प्रचण्ड भूकम्प के समय सरकार से भी दो दिन पहिले सहायता लेकर कष्ट में पड़े हुओं की रक्षा और मदद के लिये पहुँचने वाले परोपकारी लाला जी का ही काम था। आज एक-एक बच्चा लाला जी के वियोग में तड़प रहा है। आज कट्टर सनातनधर्मी भी आर्यसमाज के समर्थक इस वैश्य जाति के रत्न के प्रति अपनी समवेदना प्रकट करता है। वीरभूमि पञ्जाब का वीर पुत्र गरीबों का सहायक, प्रमुख राजनैतिक इससे बढ़कर उच्च पद क्या प्राप्त कर सकता है, कि देश-सेवा के अपराध में एक प्रसिद्ध व्यक्ति को अपने देशसेवा हित देश से निकाल दिया जाय, लाला जी का सिद्धान्त और मन्तव्य यही था कि "मेरा मजहब हक-परस्ती है" मेरी मिल्लत कौम परस्ती है, मेरी इबादत खलक परस्ती है, मेरी अदालत मेरा अन्त-करण है, मेरी जायदाद मेरी कलम है, मेरा मन्दिर मेरा दिल है, और मेरी उमंगें सदा जवान हैं।" तत्कालीन समाचार-पत्र के इन शब्दों से साधारण कोटि का मनुष्य भी अच्छी तरह समझ सकता है कि लाला जी का प्रभाव सूर्य की भांति सारे देश में किस प्रकार चमकता था।

वृटिश सरकार की दमन-नीति से कुचले जाने वालों की रक्षा तो लाला जी अपने जीवन में निरन्तर करते ही थे। परन्तु देश में अन्य प्रकार की विपत्ति आने पर लाला जी तन मन और धन से उसका प्रतिकार करने में सदा संलग्न रहते थे। इनके जीवन-काल में कई बार भारत-वासियों को अकाल का ग्रास बनना पड़ा। वृटिश सरकार यदि अकाल पीड़ितों की सहायता करती थी तो केवल इस लिये कि उन्हें बहका कर ईसाई मिश्नरियों द्वारा ईसाई बनाने का अवसर मिल जाता था। सरकार के एजण्ट स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा करते थे कि यदि ईसाई बन जाओगे तो पेट-भर अन्न खाने को मिलेगा। अकाल-पीड़ित प्रजा अपने प्राण बचाने के लिये सहर्ष ईसाई बनना स्वीकार कर लेती। लाला लाजपतराय ने अंग्रेज़ो की कूटनीति को समझ कर इन अकाल-पीड़ितों का भार अपने ऊपर लिया। रात दिन दौड़-धूप कर चन्दा इकट्ठा किया। कई स्वयं-सेवकों का दल बनाकर आर्यसमाज की ओर से प्रजा की प्रशंसनीय सेवा की। हज़ारों रुपये अपनी जेब से परोपकार में खर्च किये।

यों तो राजनैतिक नेता एक से एक बढ़ कर इस भारत भूमि में हो चुके हैं, और कई एक समाज-सेवक, धर्म-रक्षक, एवं जाति-रक्षक भी हो चुके हैं; परन्तु लाला लाजपतराय के अतिरिक्त ऐसा और कोई; नहीं हुआ जिसमें ये सारे गुण विद्यमान हों। अपने समय में ये उच्चकोटि के राजनैतिक होने के साथ २ अद्वितीय समाज-सुधारक भी थे। इन गुणों के अतिरिक्त उनमें एक विशेषता और भी थी, वह थी दानवीरता। जब कभी देश-सेवा के लिये धन की आवश्यकता होती तो सर्व-प्रथम लालाजी अधिक से अधिक धन दान करते तथा औरों को भी प्रेरित करते। अपने प्रान्त पञ्जाब में ही नहीं उड़ीसा, मध्यप्रान्त, और

युक्तप्रान्त आदि में भी जब भीषण अकाल का प्रकोप हुआ तो उस समय लालाजी के अथक परिश्रम का यह फल होता था। कि लाखों प्राणी मौत के मुख में जाने से बच जाते। सचमुच यदि १९०७–८ के अकाल में लाला लाजपतराय जैसा कर्मवीर मैदान में न आता तो उस समय भारतीय जनता और विशेष कर हिन्दुओं की जो हानि होती इसका अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है। लाला जी कार्यों में इतने संलग्न रहते थे कि यदि कोई दूसरा व्यक्ति होता तो वह उत्साह छोड़ बैठता, परन्तु ये तो अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताते थे। जहाँ व्याख्यान में सिंह-गर्जना कर वैरियों का हृदय दहला देते वहाँ ये एक अच्छे सिद्धहस्त लेखक भी थे। अमेरिका में लालाजी ने अपनी लेखन-कला के द्वारा ही उन विदेशियों को अपने सिद्धान्तों का समर्थक बनाया तथा अद्वितीय लेखन-कला द्वारा ही अपनी आजीविका चलाई। जब लाला जी अमेरिका में थे तो इनकी कई पुस्तकों तथा लेखों को वहाँ की जनता ने बड़े हर्ष तथा चाव के साथ पढ़ा। पराधीन और छोटे-छोटे राष्ट्रों के सम्बन्ध में विचार करने के लिये अमेरिका में बैठी हुई एक वैदेशिक समिति के सामने उपस्थित करने के लिये इन्होंने एक विज्ञप्ति छपवाई जिस का शीर्षक "भारत एक श्मशान भूमि" था। इसका यूरोप तथा अमेरिका के अतिरिक्त एशिया की सभी भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित हुआ। भारत की वास्तविकता से सभी जानकार हो गये, सारा संसार विज्ञप्ति को पढ़कर दहल गया। लालाजी की लेखनी ने इसमें जो कमाल कर दिखाया वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसका एक २ शब्द चुना हुआ हीरा है। ओजस्विनी भाषा में लिखी गई इस छोटी सी विज्ञप्ति ने न केवल लाला जी का ही गौरव बढ़ाया अपितु सारे भारत का मुख उज्वल किया। विदेशी लोग दाँतों तले अंगुली दबा कर आश्चर्य-चकित रह गये और [illegible]

पड़ा कि बुद्धि-बल में भी भारत सब से बढ़ कर है। लालाजी ने अमेरिका के भारतीय मज़दूरों के सम्बन्ध में भी बड़ा अच्छा कार्य किया। उन्होंने उनका संगठन कर एक मज़दूर संघ की स्थापना की। शिक्षा का प्रचार करने के लिए रात्रि पाठशालाएँ खोलीं।

लाला जी सदा से ही बृटिश सरकार के विरोधी रहे हों, यह बात भी नहीं। जब यूरोप में प्रथम महायुद्ध छिड़ा था, अंग्रेजों ने भारत से सहायता मांगी तो महात्मा गाँधी की भांति लाला लाजपतराय ने भी अपनी यही अनुमति दी कि भारतीय वीर इस महायुद्ध में अंग्रेज़ों की पूरी सहायता करें। क्योंकि उन को अपनी वीरता दिखलाने का अवसर मिल जायेगा। भारतीय जनता ने इस युद्ध में सच्चे हृदय से धन तथा जन से अंग्रेजों की पर्याप्त सहायता की। सुदूर फ्राँस के मैदान में वीर बांकुरे भारतीयों ने जर्मनी वालों के छक्के छुड़ा दिये। अपने नेताओं की आज्ञा पालन कर भारतीय जनता ने अपने कर्तव्य को पूरा किया। किन्तु कृतघ्न नीति-नीपुण सरकार ने उसके बदले में रोलट ऐक्ट पारितोषिक-रूप में भारतीयों को प्रदान किया। फिर क्या था इस घटना के बाद तो लालाज़ी सरकार के कट्टर शत्रु बन गये। तब से आजीवन बराबर बृटिश सरकार से संघर्ष करते ही रहे।

लालाजी सच्चे कर्मवीर थे। संसार में सच्चे जीवन का संदेश लाने वाली आत्माएँ सदा अमर रहती हैं। भावुक तथा कर्मण्य संसार के लिए आत्मा के सच्चे भाव ही स्फूर्ति-दायक सिद्ध होते हैं। पञ्चभूत का चित्र भले ही संसार से मिट जाय, परन्तु महान् आत्माओं का त्याग और आदर्श सदा अमिट रहेगा। उनके आदर्श का सूर्य सदा संसार में प्रकाशमान रहता है। यह ठीक है कि समय के प्रभाव से ही भगवान की विशिष्ट विभूतियाँ इस पृथ्वी पर अवतरित होती हैं। जिनके जन्म ग्रहण का कारण

एक मात्र दूसरों को दुःख से छुड़ाना होता है। धर्म तथा जाति पर बलिदान होना उनका चुटकीमात्र का खेल होता है। परन्तु बलिदान होने से संघर्ष की कसौटी पर घिस २ कर जीवन-लीला समाप्त करना महत्व का कार्य है। लालाजी में यही एक विशेषता थी कि रात दिन देश की भलाई के लिये वे अपने जीवन की आहुति देने में ज़रा नहीं घबराते थे। मातृ-भूमि के सच्चे पुजारी देश के दमनीय प्राणियों के शरणदाता, दीन असहायों के बन्धु सारे राष्ट्र के सेवक माननीय लाला जी यद्यपि आज हमारे सामने जीवित नहीं हैं, परन्तु उनके पवित्र बलिदान ने सारे भारतवर्ष और विशेषकर पञ्जाब को अमर कर दिया है। लाला जी उत्साह-हीन होना तो कभी जानते ही न थे। एक निष्ठ होकर देश-सेवा व्रत का आचरण करना आपके जीवन का लक्ष्य था। संसार के युवकों को जोशीले व्याख्यानों द्वारा कर्म-क्षेत्र में प्रेरित करना तथा कतिपय लोगों को स्वरचित ग्रन्थों द्वारा कर्तव्य का पाठ पढ़ाना आपका मुख्य ध्येय था। आपका त्याग अपूर्व था देश-सेवा के लिए आप अपना सर्वस्व बलिदान किये हुए थे। एक सार्वजनिक और सच्चे नेता में जो गुण होने चाहियें, वे सभी गुण लाला जी में विद्यमान थे। अपूर्व स्वार्थ-त्याग, अदम्य उत्साह सज्जनता, उद्योग-दृढ़ता और धैर्य आदि गुण आप में जन्मजात थे।

वास्तव में यह हिन्दुस्तान का सौभाग्य है, यहां तिलक, राना डे गोखले, अरविन्द, बँकिमचन्द्र आदि की भांति लाला लाजपत राय जैसे स्वाधीनता के उपासक नर-रत्न पैदा हुए हैं। जगदीश चन्द्र बोस, सर प्रफुल्लचन्द्र राय जैसे विश्व-विख्यात वैज्ञानिक तथा रवीन्द्रनाथ जैसे विश्वकवि को जन्म देने का श्रेय इसी वृद्ध भारत वर्ष को ही है। अंग्रेज़ी शासन के आने से हिन्दू जाति अधोगति की ओर चली जा रही थी। लालाजी के आग-

त्याग ने उसे ऊपर उठा दिया। हिन्दू जाति के रोम-रोम में जागृति की लहर दौड़ा दी। जब वे अंग्रेज़ों की चाल तथा दुःखी भारत की दीन दशा देखते तो उनके भुजदंड फड़कने लग जाते हृदय में नवीन उमंगे समुद्र की उत्ताल तरंगों की भांति उमड़ने लगतीं। लाला जी उन वीरों में से थे जो अपने विरोधियों को मुँहतोड़ जवाब उनके सामने ही दे देते थे। जिस समय कांग्रेस का चौथा अधिवेशन सन् १८८८ ईसवी में प्रयाग में हुआ तो लाला लाजपतराय पहिले पहल इसी अधिवेषण में कांग्रेस में सम्मिलित हुए थे। उस समय इनकी अवस्था केवल तेइस वर्ष की ही थी। सर सैयद सय्यद जो कि पहिले हिन्दू-मुसलिम एकता का समर्थक कांग्रेस का पक्षपाती था। वह कौंग्रेस-विरोधी सभा स्थापित कर कांग्रेस का कट्टर विरोधी बन गया। सम्मेलन में लाला जी ने बड़े ओजस्वी भाषण देकर सर सैयद के विरोध का मुँह-तोड़ उत्तर दिया। इस भाषण को सुनकर सब लोग स्तब्ध रह गये। यही कारण था कि जब इंगलैंड में पार्लियामेण्ट का चुनाव होने वाला था, तो श्री गोखले के साथ लाला लाजपतराय को इंगलैंड भेजा गया। योरुप में भ्रमण करते समय उन देशों में सर्वत्र प्रजातंत्र की प्रधानता देखकर तथा जनता को अपने अधिकारों के विषय में जागृत देखकर लाला जी के हृदय में यह प्रबल भावना जागृत हो उठी कि मैं भी इसी भांति अपने देश को कब स्वतंत्र देखूँ। उन्होंने अपने मन में इस बात का भी अच्छी तरह अनुभव किया कि स्वतंत्रा माँगने से नहीं मिलेगी, इसके लिये सर्वस्व बलिदान करना पड़ेगा। साथ ही सारी भारतीय प्रजा को अपने पैरों पर खड़े होने की आवश्यकता है। स्वतंत्रा प्राप्त करने के लिए लालाजी शिक्षा का प्रचार अधिक से अधिक होना अनिवार्य समझते थे। उन्हीं के परिश्रम का फल है कि लाहौर का डी० ए० बी० कालेज पंजाब प्रान्त में

अद्वितीय विद्या-केन्द्र बना। प्रचार करने के नाते विद्याप्रेमी, आर्य समाज का उत्थान एवं प्रचार करने से देश-भक्त या देश का महान् राजनैतिक, दीन-अनाथों की तन, मन, धन से सहायता करने पर दीन-बन्धु, अनन्त धन-राशि दान देने से दानवीर आदि उपाधियों द्वारा विभूषित किया जा सकता है। वस्तव में लाला जी किसी एक पन्थ के अनुयायी न थे। जिस मार्ग से जन साधारण का कल्याण हो वे उस पर चलने के लिये हर समय तय्यार रहते थे। अन्य नेताओं में प्राय: यह बात देखी गई है कि यदि वे राजनैतिक हैं तो उन्हें दया, धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। यदि धार्मिक या सामाजिक नेता हैं तो फिर राजनीति के चक्कर में जाना वे कीचड़ में पैर फँसाना समझते हैं। लाला लाजपतराय जब राजनैतिक कार्यों से छुट्टी पाते तो समाज-सम्बन्धी दूसरे कामों में संलग्न हो जाते। वकालत करते समय सभी वकीलों का ध्यान पैसे की ओर रहता है। जिधर अधिक पैसा मिले उधर पैरवी के लिये खड़े होजाना उनका मुख्य ध्येय रहता है, परन्तु लाला जी झूठे जाल-साज़ी के मुकदमों को बिलकुल नहीं लेते थे। साथ ही दीन तथा अनाथों की ओर से बिना पैसे के भी पैरवी करते थे। लालाजी प्राणिमात्र की सेवा करना ही अपना सर्व-प्रथम कर्तव्य समझते थे।

भारत में ही नहीं अपितु भारतवर्ष से बाहर अमेरिका आदि देशों में रहने वाले भारतीयों से भी लालाजी प्रचुर सहानुभूति रखते थे। समय समय पर वे प्रवासी भारतीयों की यथेष्ट सहायता करते रहे। ऐसे सर्वतोमुखी देश-सेवा के कार्यों का कहाँ तक वर्णन किया जाय। उनके देश-निर्वासन से उन दिनों भारत को अधिक क्षति पहुँची, किन्तु लाला जी ने अपना निर्वासन काल अधिकतर प्रवासी भारतीयों की सेवा में ही बिताया। यदि लाला जी को देश-निर्वासन न होता तो [illegible]

को भारत की वास्तविक स्थिति से परिचय न हो पाता। बृटिश गवर्नमेण्ट के अतिरिक्त सभी विदेशियों ने आपके भाषणों, लेखों और सार्वजनिक सेवाओं का स्वागत किया। इतने विश्वविख्यात महान् व्यक्ति होने पर भी लाला लाजपतराय साधारण वेश-भूषा, खान-पान तथा सादा-चलन से रहते थे। यदि उनके साथ कभी नौकर नहीं होता तो अपने दैनिक जीवन का आवश्यक कार्य स्वयं कर लेते। निरन्तर दौड़-धूप के कारण लालाजी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। फिर भी एक सफल सैनिक की भांति कर्म-क्षेत्र में डटे रहते थे। ऐसे महान् व्यक्ति ही इस नश्वर शरीर से अमर कीर्ति प्राप्त करते हैं। यद्यपि लाला जी के बाद उनके वंश में उन जैसा प्रभाव-शाली पुरुष तो नहीं जन्मा फिर भी आज तक उनके वंश के स्त्रीपुरुष देश-सेवा के कार्यों में अग्रसर होकर अपनी देश-भक्ति का परिचय देते हैं। लाहौर गोलबाग में पूज्य लालाजी की सुन्दर मूर्ति स्थापित है। मूर्ति के चारों ओर जनता के बैठने के लिये बैंच लगे हुए हैं। लाला जी एक अंगुली खड़ी किए हुए ऐसे प्रतीत होते हैं मानों सचमुच ही सजीव रूप में जनता को सावधान होने तथा एक मात्र स्वतंत्रता पाने के लिए प्रेरित कर रहे हों। इसके पास ही लाजपतराय भवन बना हुआ है। भवन का बड़ा हाल जनता के हित सभा सोसाइटी आदि के काम आता है तथा हाल के ऊपर सुन्दर तथा विशाल लायब्रेरी बनी हुई है। स्थानीय लोग इस पुस्तकालय से बड़ा लाभ उठाते हैं। इस प्रकार यह विशाल भवन लाला जी की कीर्ति का स्तम्भ है। हम उनके पवित्र कार्यों की महान् त्याग की सराहना करते हैं। और ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हमें भी लालाजी का आदर्श प्राप्त हो।

मुद्रक—दी आर्य प्रेस लिमिटिड, मोहनलाल रोड, लाहौर।